मनन और मंतव्य

लेखक के विचारात्मक
साहित्यिक निवन्धों
का चारु-चयन

लेखक की कुछ अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ

क्रम		प्रथम संस्करण	मूल्य
१.	हिन्दी कवियों की काव्य-साधना	सन १९५२	चार रुपये
२.	विचार-वीथिका	,, १९५४	चार रुपये
३.	अनुभूति और अध्ययन	,, १९५४	चार रुपये पचास पैसे
४.	सेनापति और उनका काव्य	,, १९५६	तीन रुपये पचास पैसे
५.	चिन्तन-मनन	,, १९५७	सात रुपये
६.	कहानी-कला की आधार शिलाएँ	,, १९५८	पाँच रुपये
७.	भक्ति-काव्य के मूल स्रोत	,, १९५८	छः रुपये
८.	रसखान का अमर काव्य	,, १९५९	दो रुपये
९.	हिन्दी कविता : कुछ विचार	,, १९५९	दस रुपये
१०.	पद्माभरण	,, १९५९	दो रुपये
११.	रस-सिद्धान्त और कहानी-कला	,, १९६०	दो रुपये पचहत्तर पैसे
१२.	हिन्दी-काव्य-मंथन	,, १९६१	पन्द्रह रुपये
१३.	साहित्य-साधना के सोपान	,, १९६१	सत्रह रुपये
१४.	भारतीय शिक्षा का इतिहास	,, १९६२	छः रुपये पचीस पैसे
१५.	प्रसाद की काव्य-प्रतिभा	,, १९६६	छः रुपये
१६.	मूल्यांकन और निरूपण	,, १९६७	दस रुपये

मनन

और

मंतव्य

दुर्गाशंकर मिश्र

विश्वभारती प्रकाशन
सीताबर्डी, नागपुर.

सामान्यतया मेरी समीक्षात्मक कृतियो में एक ओर तो प्रसंगानुसार विविध समीक्षा प्रणालियाँ प्रयुक्त हुई हैं और दूसरी ओर विभिन्न साहित्य रूपो—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकाकी, समालोचना, रेखाचित्र आदि—के सम्बंध में विस्तृत या संक्षिप्त विचार व्यक्त किए गए हैं। हिन्दी साहित्य के साथ-साथ मुझे संस्कृत साहित्य एवम् पाश्चात्य समीक्षा के अध्ययन-अनुशीलन का यथेष्ट अवसर भी प्राप्त हुआ है और इसका प्रमाण मेरी कृतियो के विहगावलोकन-मात्र से ही मिल जाता है। साथ ही सस्कृत साहित्य एवम् पाश्चात्य समीक्षा के सम्बंध में अनेक स्फुट निबन्धो में मैंने विचार भी किया है और इधर कुछ अन्तर्प्रान्तीय भाषाओ के साहित्य का रसास्वादन करने का सौभाग्य भी मुझे मिला है। अतएव प्रस्तुत कृति का निर्माण करते समय मुझे उक्त बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हुआ अन्यथा प्रस्तुत निबन्ध संग्रह को मेरे साहित्यिक निबन्धो का प्रतिनिधि संकलन या चारुचयन कहना अनुपयुक्त ही होता। इस प्रकार 'मनन और मंतव्य' मे सकलित निबन्धो मे पृथक्-पृथक् रूप से काव्य, नाटक उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र और समालोचना आदि विभिन्न साहित्य रूपो का आवश्यकतानुसार सैद्धांतिक एवम् विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा यह निबन्ध-संग्रह मेरी समीक्षा-पद्धति का यथेष्ट परिचय देने मे भी समर्थ है। इससे अधिक मैं प्रस्तुत कृति के सम्बध मे और कुछ कहना उचित नही समझता। यद्यपि मेरे कुछ मित्रो ने मुझसे कई बार आग्रह किया कि मैं किसी कृति मे अपनी साहित्य-साधना के क्रमिक विकास का पूर्ण, चाहे संक्षिप्त ही, विवरण अवश्य प्रस्तुत करूँ तथा यह अवसर इस कार्य के लिए अनुकूल होते हुए भी कुछ कारणो से यह कार्य अपने इस लेखकीय निवेदन मे मुझसे संभव नही हो सका। आत्मविज्ञापन के प्रति विरक्ति-सी होने के कारण प्रायः मैंने सर्वत्र ही अपने सम्बंध मे कम से कम ही कहा है और मूक साधना ही मेरा सर्वदा से ध्येय रहा है। अन्त मे प्रस्तुत कृति के प्रकाशक महोदय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी आवश्यक है क्योकि उन्होने इसके प्रकाशन मे न केवल अपनी रुचि प्रकट की अपितु बहुत अधिक विलम्ब भी नही किया। साथ ही, पर्याप्त सतर्कता रखने पर भी प्रस्तुत कृति मे मुद्रण-सम्बंधी कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं लेकिन इनसे पुस्तक की उपयोगिता पर कोई प्रभाव नही पडता। आशा है मेरी अन्य कृतियो की भाँति प्रस्तुत कृति को भी सहर्ष अपनाया जायगा।

कार्तिक पूर्णिमा
संवत् २०२५ वि.

भारतीय साहित्य के मौन साधक

पूज्य पितामह

पं. शिवराम जी मिश्र

की

पुण्य स्मृति

में

संकेतिका

मनन

और

मंतव्य

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वाविजानाति । मत्वैव विजानाति ।

मतिस्त्वेवविजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ।

छान्दोग्य उपनिषद् ७/१८

अर्थात् प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति का मूलाधार मनन ही है। मनुष्य जब मनन करेगा तभी वह किसी वस्तु, विचार या ज्ञान को जान सकेगा ।

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में काव्य का विभाजन

यद्यपि पाश्चात्य विचारक क्रोचे (Benedetto Croce) का कहना है कि काव्य-रूपों का वर्गीकरण करना ही व्यर्थ है और कला के क्षेत्र मे गीतिकाव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि का भेद नही हो सकता[1] पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पाश्चात्य समीक्षको ने भी काव्य-विभाजन के सम्बन्ध में अपने विचार अवश्य व्यक्त किये है। यहाँ यह स्मरणीय है कि पाश्चात्य आलोचना का आरम्भ ग्रीस (यूनान) में ही हुआ है[2] और प्लेटो (प्लतोन) को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का आदि स्त्रोत भी कहा जाता है[3] पर प्लेटो के कुछ पूर्व ही प्राचीन ग्रीस में काव्य-सम्बन्धी जिज्ञासा आरम्भ हो चुकी थी। कहा जाता है कि होमर ने अपने महाकाव्य 'इलियड' में एक स्थान पर एक सैनिक के स्वर्णनिर्मित कवच का उल्लेख किया है जिसमें कुछ चित्र खुदे हुए थे और उनमे से एक चित्र हल से खुदी हुई भूमि का भी था अतः स्वर्णकवच मे हल से खुदी हुई भूमि का आभास कलाकार की एक विशिष्टता की ओर संकेत करता है लेकिन बहुत दिनो तक होमर के इस महत्व को स्वीकार नहीं किया गया पर अब समीक्षक यह मानते है कि होमर के महाकाव्यो का प्रभाव कला-मीमासा पर भी पड़ा है श्री लीलाधर गुप्त के शब्दों में "प्राचीन यूनान मे कला-मीमांसन नैतिक दृष्टि-

---

१. Aesthetics—Benedetto Croce; P. 60-61
(Translated by Dongas Ainslie)

२. "कला और विज्ञान के अन्य रूपो की भाँति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का आरम्भ भी यूनान में ही हुआ।"
—पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—प्र. सं. डॉ. नगेन्द्र; सं. डॉ. सावित्री सिन्हा; भूमिका; पृष्ठ १

३. वही; पृष्ठ १

कोण से हुआ। कवि उपदेशक माना जाता था। यूनानियो का सबसे बड़ा कवि उनका सबसे बड़ा उपदेशक था। प्रत्येक यूनानी जीवन के आदर्श होमर के महाकाव्यो से लेता था। होमर ने अपने काव्यो में जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिरूप दिया था; ऐसी धारणा यूनानियों की थी। अलौकिक पात्रों और घटनाओं को उनके व्याख्याता लाक्षणिक अर्थ दिया करते थे। शुरू से ही उनके मस्तिष्क में यह विचार समाया हुआ था कि कला सच्चे रूप से अनुकरणात्मक होती है। इस विचार का सोलन पर इतना अधिक प्रभाव था कि अपने समय के नाटकों में झूठा अनुकरण पाने पर उसनें उनका बहिष्कार किया। इस आदर्श की सोक्रेटीज ने भी पुष्टि की और उसने सुझाया कि मन की आंतरिक अवस्थाओं का अनुसरण भी चेहरे से इंगित द्वारा हो सकता है। वह थोड़ा सा आगे भी बढ़ा। उसने यह स्थापित किया कि प्राकृतिक तत्वों को ऐसे मिलाया जा सकता है कि उनसे नये-नये रूपो की सृष्टि हो। आगामी आलोचक इसी सिद्धांत पर जमे रहे और उनके इस कथन में कि कविता की ध्वनियाँ जीवन की ध्वनियों की नकल है और कविता की गतियाँ जीवन की गतियों की नकल हैं, अनुकरणात्मक सिद्धान्त की व्याख्या अपनी अंतिम सीमा पर पहुँच जाती है। परन्तु इस सिद्धांत का सबसे बड़ा पोषक प्लेटो है। उसने इसी सिद्धान्त का उपयोग अपनी काव्य-समीक्षा मे किया। उसने सिद्ध किया कि समग्र यूनानी साहित्य में न अलौकिक सत्य है और न लौकिक। एक आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक को ऐसी झूठी साहित्यिक सृष्टि से अलग ही रहना श्रेयस्कर है। अरिस्टॉटिल भी इसी सिद्धांत का अनुयायी था।"[४]

पाश्चात्य विचारक बोसांके (Bosanquet) ने भी होमर का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उसे प्राचीन समीक्षाओं में से एक कहा है[५] और प्लेटो-पूर्व-युग का एक अन्य ग्रंथ अरिस्तोफनेस का हास्य नाटक 'फ्राग्स' भी उल्लेखनीय कहा

---

४. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—श्री लीलाधर गुप्त; पृष्ठ ४५

५. "Natural commonsense expressed this truth in one of the earliest aesthetic judgments that western literature contains, when on the shield of Achilles, the Homeric poet says—

That earth looked dark behind the plough, and like to ground that had been ploughed, although it was made of gold that was a marvellous piece of work. (11. 17. 358.)"

—History of Aesthetics—Bosanquet; P. 12.

जाता है तथा "इसमें एउरिपिदेस (यूरिपाइडीज) तथा ऐस्स्युलस (एस्काइलस) के आलोचनात्मक विवाद का बड़ा सजीव हास्यपूर्ण वर्णन किया गया है। इसमें ऐस्स्युलस ने एक मौलिक प्रश्न उठाया है कि कवि किस आधार पर यश का अधिकारी होता है और उत्तर में एउरिपिदेस से कहलाया गया है : यदि उसकी कला सच्ची है और उसका परामर्श सत् है, और यदि वह किसी भी दृष्टि से मानव को उत्कृष्टतर बनाकर राष्ट्र का सहायक होता है।"[६]

इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो के पूर्व ही प्राचीन ग्रीक साहित्य में समीक्षा का स्वरूप विद्यमान था और काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा विषयक कुछ उद्धरण तो हमें ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी के भी प्राप्त होते हैं पर हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उचित समझते हैं कि उक्त सामग्री में शोधपूर्ण सिद्धान्तों का अभाव-सा है। इसीलिये समीक्षकों का यही मत है कि वास्तव में छठवीं शताब्दी पूर्व तक काव्य रचना का ही प्रयास-मात्र दिखाई पड़ता है, सिद्धान्त समीक्षा का नहीं।[७] इस प्रकार कुछ विचारक सोफिस्ट को ही पहला अलंकार शास्त्री मानते हैं[८]

६. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा—प्र. सं. डॉ. नगेन्द्र; सं. डॉ. सावित्री सिन्हा; भूमिका; पृष्ठ १

७. "We find as might be expected, some isolated remarks which may be called 'Critical' as implying an aesthetic judgmet. But when Siomonides for example defined poetry as vocal painting, and painting as silent poetry, or when Corinna gave her pupil Pindar the advice to sow (myths) with the hand, not with the whole sack, these criticisms do not of course, imply any reasoned or systematic theory of art; they are simply deductions which any poet might easily draw from his own experience. In general the great lyricists of the 6 th century B. C. were too busy with their own magnificient practice to feel the need for theoretic effort."

— Greek view of poetry – E. E. Sikes; P. 11

८. "That the Sophist was the first Rhetorician would be allowed by his accusers as well as his apologists; and thougs Rhetoric long followed wondering fires before it recognised its star and became literary criticism, yet nobody doubts that we must look to it for what literary criticism we shall find in these times."

—A History of Criticism —George Saintsbury; P. 14

और यह धारणा भी प्रकट की गयी है कि अलंकार शास्त्र का प्रादुर्भाव सिसली द्वीप मे हुआ तथा 'एम्पीडॉकिलस' उसका आविर्भावक था[९] पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो "पाश्चात्य आलोचना मे मौलिक सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रतिपादन प्लेटो और अरस्तू द्वारा ही हुआ। इसी काल मे पाश्चात्य अर्थात् ग्रीक आलोचना का हमे क्रमबद्ध स्वरूप देखने को मिलता है। इसके पहले कतिपय यूनानी साहित्यकारों की कृतियो में हमे भले ही कुछ फुटकर आलोचना के सिद्धान्तो के दर्शन हो, किन्तु उनका कोई सुथरा और सुष्ठु रूप हमे देखने को नही मिलता। यूनान ही उस समय तक योरप की संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा था, अतः स्वाभाविक ही था कि साहित्य के सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम वहाँ होता। किन्तु चौथी शती तक यूनानी जीवन के राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक सभी क्षेत्रो में अराजकता फैल गई थी और उसके सांस्कृतिक वैभव का वेग से विघटन आरम्भ हो गया था। ऐसी स्थिति में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की विचारधाराओ ने क्रमिक रूप से यूनान की संस्कृति के उत्थान में अपना अपना शक्तिशाली और महत्वपूर्ण योग दिया। इन्ही दर्शनवेत्ताओ ने सर्वप्रथम साहित्य-विषयक मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया और इस प्रकार पश्चिम मे आलोचना-शास्त्र की नीव डाली।"[१०]

वस्तुतः सुकरात (साक्रीटीज) ने साहित्यालोचन के क्षेत्र मे नवीन उद्भावनाये प्रस्तुत नही की थीं पर उसके शिष्य प्लेटो ने अवश्य अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ मे आदर्श-राज्य का निरूपण करते समय उस आदर्श राज्य में कविता तथा कलाओ का क्या स्थान होगा, इस पर विचार किया। यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्लेटो का दृष्टिकोण मूलतः एक दार्शनिक का दृष्टिकोण है और कदाचित यही कारण है कि उसने साहित्य शास्त्र के प्रति न्याय नही किया तथा काव्य और कवियो का घोर विरोध कर उन्हे हेय व निन्दनीय प्रमाणित किया पर उसके कार्य का सैद्धान्तिक महत्व भी है। श्री. नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों मे 'उसने सारी कलाओ को अनुकृति पर आधारित माना है। यद्यपि उसका कथन

---

९. "Empedocels, according to some tradition was the inventor of Rhetoric—was certainly was a native of the island where Rhetoric arose—the chief speaker among the old philosophers."

—Ibid; P. 13.

१०. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव

— डॉ रवीन्द्र सहाय वर्मा; पृष्ठ ४८.

है कि यह अनुकृति वास्तविकता की छाया, अथवा छाया की भी छाया है, फिर भी उसने कलाओं के अनुकृतिमूलक स्वरूप को पहचाना। उसने कलाओं द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द पर भी प्रकाश डाला। उसका विचार था कि यद्यपि वे हमें वास्तविक आनन्द नहीं देतीं, वरन् एक भ्रमात्मक आनन्द देती हैं। फिर भी उसने कलाओं की आनन्दात्मक सत्ता को स्वीकार किया। प्लेटो ने काव्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीतकला आदि की समरूपता को पहचानकर उनका वर्गीकरण एक ही (कला) श्रेणी के अन्तर्गत किया।"[११]

प्लेटो के साहित्य-सम्बंधी विचारों का मूल्यांकन करते समय हमें यह भी न भूलना चाहिए कि उसने अपने समकालीन साहित्य को देखकर ही अपना मत निर्धारित किया था। चूँकि वह संसार में श्रेष्ठ राज्य, श्रेष्ठ समाज व श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना करना चाहता था पर साहित्य व कला का तत्कालीन रूप उस लक्ष्य की पूर्ति न कर समाज में उच्छृंखलता फैला रहा था अतः उसने साहित्य व कला की घोर निन्दा ही प्रारंभ कर दी लेकिन उसके आलोचना सम्बंधी विचारों को सर्वथा उपेक्षणीय न समझना चाहिए। डॉ. निर्मला जैन के शब्दों में "प्लेटो का आविर्भाव पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र की एक ऐतिहासिक घटना है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यद्यपि उन्हें आद्याचार्य होने का गौरव नहीं दिया जाता, आज भी उस पर उनके शिष्य अरस्तू ही अधिष्ठित हैं परन्तु प्लेटो क ऐतिहासिक महत्व इससे कम नहीं होता।...प्लेटो का ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। उनका काव्यशास्त्रीय महत्व भी पर्याप्त है।.....काव्य के मौलिक सत्यों के तात्विक विवेचन में यूरोप के मनःशास्त्रविद् आचार्यों एवं दार्शनिकों का योगदान अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है और प्लेटो इन दार्शनिकों में प्रथम थे।...प्लेटो ने मनःशास्त्र के विकास से इतने पूर्व आविर्भूत होकर भी कतिपय ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है जो आज भी काव्य-सम्बंधी मनोवैज्ञानिक प्रश्नों की नींव है।"[१२] साथही परवर्ती समीक्षकों पर भी प्लेटो का पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है और डॉ. रवींद्र सहाय वर्मा के शब्दों में "प्लेटो ने आलोचना शास्त्र का जो मार्ग प्रशस्त किया था उसी पर चलकर उसके परवर्ती दर्शनवेत्ताओं ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।"[१३] इतना होते हुए भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सर्वप्रथम लेखक अरस्तू (अरिस्टॉटिल)को ही

११. आधुनिक साहित्य—श्री. नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ ४२५–४२६

१२. प्लेटो के काव्य सिद्धात—डॉ. निर्मला जैन; पृष्ठ १०३–१११

१३. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव—डॉ. रवीन्द्रसहाय वर्मा; पृष्ठ ५०–५१.

माना जाता है[१४] और डॉ. नगेन्द्र का तो यही मत है कि "अपने तत्त्व रूप में काव्य की भाँति काव्यशास्त्र का भी एक सार्वभौम रूप होता है। इस व्यापक धरातल पर अरस्तू विश्व काव्य शास्त्र के अग्रणी आचार्य है।"[१५]

अरस्तू का समय ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है[१६] और उसकी काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, राजनीति, धर्म व विज्ञान आदि विषयों पर भी कृतियाँ हैं लेकिन काव्यकला पर लिखी गयी उनकी पुस्तक 'पोइटिक्स' ही बहुत अधिक प्रसिद्ध है तथा "इस-विषय पर पश्चिमीय साहित्य में तब से लेकर अब तक यह काव्यशास्त्र अवगाहन के लिये परमोच्च प्रकाशगृह का काम देती है।"[१७] साथ ही अरस्तू का द्विगुणित महत्व भी स्वीकार किया जाता है क्योंकि एक ओर तो उनकी धारणा का आधार लेकर ही काव्यशास्त्र का विषय पाश्चात्य जगत मे अंकुरित और विकसित हुआ है तथा कुछ विचारक उसे ही विश्व मे सर्वप्राचीन शास्त्रीय समीक्षक मानते हैं।[१८] इतना ही नहीं कुछ समीक्षकों ने तो अरस्तू को संस्कृत साहित्य के आचार्यों से भी पूर्वकालीन माना

---

१४. "पाश्चात्य साहित्य में काव्य के अनेक अंगों पर वैज्ञानिक रीति से विचार करनेवाला पहला विद्वान अरिस्टॉटिल है।"

—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ८

१५. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ. नगेन्द्र; भूमिका; पृष्ठ १६५

१६. "Aristotle, philosopher, psychologist, logician, moralist, political thinker, biologist, the founder of litrary criticism—was born at Stagira, a Greek Colonial town on the north western shores of the Age on in 384 B. C."

—Encyclopaedia Britanica; the 14 the Edition; Vol. 2; P. 319.

१७. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ८

१८. "He has been Variously assigned to periods ranging from the 2nd Centary B C. to the 2nd Century A. D. that he is the oldest writer on dramatury, music and kindred subjects whose work has survived, is generally admitted."

—Studies in the History of Sanskrit Poetics Dr. S. K. De; part 1; p. 23.

है।[19] पर यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक टीका-टिप्पणी न कर हम तो केवल इतना ही कहेंगे कि पाश्चात्य जगत में निस्सन्देह अरस्तू का विवेचन सर्वप्राचीन है।

अरस्तू की 'पोइटिक्स' में काव्यकला के साथ-साथ काव्यशक्ति, निर्माण विधान, कविता के अंग और अन्य आवश्यक विषयों की भी व्याख्या की गयी है[20] तथा काव्य के तीन स्वरूप त्रासदी (Tragedy), कामदी (Comedy) और महाकाव्य (Epic) आदि का स्वरूप विश्लेषण किया गया है।[21] अरस्तू ने इन विषयों का तुलनात्मक विवरण करने की ओर भी ध्यान दिया है और इससे यह स्पष्ट है कि काव्य-रूपों का विस्तृत विवेचन और काव्यकला सम्बंधी व्यापक विचार पाश्चात्य समीक्षा में सर्वप्रथम अरस्तू की 'पोइटिक्स' में ही दृष्टिगोचर होते हैं। हो सकता है यह विवेचन पूर्ण और व्यापक न हो पर समीक्षकों का तो यही मत है कि 'पोइटिक्स' संभवतः काव्यशास्त्र का सर्वप्रथम ऐसा प्रामाणिक

---

१९. "But all these details cannot lead to any certain result as to the age of the Natyashastra. They however make it highly probable that the Natyashastra is not much older than the beginning of the Christian era."

—Sahitya Darpana—Edi. Dr. P. Y. Kane; Introduction; P. IX.

२०. Aristotle on the Art of Poetry—I. Bywater; P. 1.

२१. "कवि व्यक्तित्व के अनुसार काव्य भेद —(१) वीर काव्य और व्यंग्य काव्य। वीर काव्य के अंतर्गत देवसूक्त, महाकाव्य तथा उदात्त चरित्रों का प्रदर्शन करनेवाली त्रासदी आती है और व्यंग्य काव्य के अंतर्गत कामदी, व्यंग्यगीति काव्य आदि।

विषय के अनुसार काव्य-भेद—(१) उदात्त काव्य (२) यथार्थ काव्य और (३) क्षुद्र काव्य।

उदात्त के अंतर्गत—महाकाव्य, त्रासदी और देवसूक्त आदि। यथार्थ काव्य के अंतर्गत—यथार्थ जीवन का अंकन करने वाले काव्य। क्षुद्र काव्य के अन्तर्गत—कामदी (प्रहसन), व्यंग्यगीति काव्य।

मिश्र—रौद्रस्तोत्र, जिसमें एक ओर ओजपूर्ण भावों और दूसरी ओर मर्मों का सम्मिश्रण रहता है। अनुकरण रीति के अनुसार काव्य भेद— १. समाख्यान काव्य २. दृश्य काव्य।

माध्यम के अनुसार काव्यभेद—१. गद्य काव्य २. पद्य काव्य।

—अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ. नगेन्द्र; भूमिका; पृष्ठ ६२

रूप है कि जिसके अनेक संशोधन परिवर्तन करने पर भी उसे उससे अच्छा नहीं किया जा सका। इतना ही नहीं उसे समीक्षा जगत मे वह विजयी सिकन्दर (अलेक्जेन्डर) कहा गया है जिसकी अपने क्षेत्र की विजय यद्यपि उसके शिष्य के दूसरे क्षेत्र की विजय से समानता नही रखती पर आज तक वह व्यावहारिक रूप से विस्तृत होकर भी अक्षुण्ण है।[२२]

अरस्तू के पश्चात भी ग्रीक साहित्य में काव्यशास्त्र पर विचार होता रहा और ईसवी सन् के प्रारंभ के पश्चात ग्रीक साहित्य व समीक्षा में पार फॉयरी, अरिस्टॉर्कस, डायोनीसियस, टैसिटस, कैसियस, लोगिनस (लांजीनस या लोंजाइनस) व प्लूटार्च इत्यादि कई विद्वानो के नाम सुन पड़ते हैं पर इनमें से किसी ने भी व्यापक रूप से काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का निरूपण नही किया लेकिन विचारक ग्रीक साहित्य में अरस्तू की पोइटिक्स के पश्चात लोगिनस की 'पेरि पोइतिकेस' को ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने के पक्ष में हैं।[२३] इसमें कोई संदेह नही कि लोगिनस ने काव्यशास्त्र पर भी विचार किया है और यह भी सत्य है कि उसने अरस्तू के विचारो को ही कुछ और अधिक स्पष्ट व विस्तृत करके प्रकट किया है पर विचारक लोंगिनस के विवेचन को एकांगी व अपूर्ण ही मानते हैं।[२४] साथ ही काव्य-विभाजन की दृष्टि से भी अरस्तू के पश्चात बहुत दिनों तक किसी भी पाश्चात्य समीक्षक ने अपने विचार व्यक्त नहीं किए और वास्तव में लगभग तेरहवी शताब्दी तक योरोपीय साहित्य-चिन्तन किसी नवीन व महत्वपूर्ण उद्भावना का दावा नहीं कर सकता। श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दो

२२. "He is the very Alexander of criticism, and his 'conquests in this field, unlike those of his pupil in another, remain practically undestroyed, though not unextended to the present day."

—A History of Criticism—George Saintsbaury; Vol. 1; P. 59.

२३. "यूनानी काव्यशास्त्र मे अरस्तू के प्रसिद्ध निबन्ध 'पेरि पोइतिकेस' के बाद दूसरा स्थान है 'पेरि इप्सुस का।"

—काव्य में उदात्त तत्त्व—डॉ. नगेन्द्र; भूमिका; पृष्ठ ७

२४. "अरस्तू का दृष्किोण अधिक विशद और व्यापक है। उनकी तर्क पद्धति अधिक पूर्ण एवं विवेकपुष्ट है, और आधार कहीं अधिक सर्वांगीण तथा सुदृढ। लोगिनुस का विवेचन उच्छ्वासपूर्ण और मौलिक होते हुए भी उसकी तुलना में एकांगी और अपूर्ण है।"

—वही; पृष्ठ-४०-४१

में—'ईसा की तीसरी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक यूरोपीय साहित्य चिन्तन किसी नवीन और महत्त्वपूर्ण उद्भावना का दावा नहीं करता। वह वहाँ के इतिहास में ख्याति, अव्यवस्था और सांस्कृतिक विच्छृंखलता का युग रहा है।'[२५] यों इस अंधकार युग के अंत में दाँते (Dante) अवश्य एक उल्लेखनीय कवि, विचारक और आलोचक के रूप में साहित्य-जगत में प्रविष्ट हुआ[२६] तथा उसके कृतित्व में बहुत कुछ मौलिक विवेचन भी दीख पड़ता है। इसी प्रकार समीक्षक दाँते के ग्रंथ 'डि वल्गरी एलोक्वियो' (De Vulgari Eloquio) की प्रशंसा भी करते हुए कहते हैं कि इतना गंभीर विवेचन काव्यशास्त्र के विषयों का फिर नहीं मिलता।[२७] पर यहाँ यह भी सत्य है कि दाँते ने काव्य के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कोई व्यापक व मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया।

इससे यह स्पष्ट है कि अरस्तू के पश्चात पाश्चात्य साहित्य समीक्षा चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक अंधकार पूर्ण स्थिति में ही रही, और सोलहवीं, सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दियों में कुछ उल्लेखनीय प्रयास किए जाने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी आन्दोलन के पूर्व पाश्चात्य समीक्षा की सैद्धांतिक दृष्टि से काव्य विभाजन की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है। एक समीक्षक ने तो उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना में भी तारतम्यता का अभाव पाया है[२८] पर यहाँ इतना तो हम स्वीकार करेंगे ही कि सिडनी, जॉनसन, ड्राइडन, एडीसन, लेसिंग आदि उल्लेखनीय प्रतिभाएँ इस बीच अवश्य समीक्षा-

---

२५. नया साहित्य : नये प्रश्न—नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ ६३

२६. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ १२-१३

२७. "We shall see nothing like this in the rest of the present book. Some useful work on prosody, a little contribution of the useful Rhetoric, some interesting indirect expression, will meet us. But no, next to such criticism properly so called, no such explanation and exposition of secrets of literary craft, no such revelation of the character of the literary bewitchment."

—A History of criticism—George Saintsbury; P. 446.

२८. "एक अंग्रेज आलोचक के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना में किसी तारतम्य को खोजना कठिन है।"

—दृष्टिकोण— डॉ. विनयमोहन शर्मा; पृष्ठ ९५

जगत में दृष्टिगोचर होती हैं। साथही स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के फलस्वरूप "उन्नीसवी शताब्दी में आलोचना की धारा अतीत की आलोचना धारा से सर्वथा विच्छिन्न होकर प्रवाहित हुई। युग की स्वच्छंद भावना ने नव्य शास्त्र-वादी सम्प्रदाय के सब नियमों और नीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया; आलोचकों ने अरस्तू, होरेस अथवा लोगिनुस के सम्मुख उपासना भाव से प्रणत होना बन्द कर दिया। वे नये मार्गो की ओर उन्मुख हुए, वे ऐसी गहराइयो में पैठे जिनका अन्वेषण अतीत मे न हुआ था।"[२९] इस प्रकार विलियम ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शैली, ह्यूगो, सैंत ब्याव, रेनाँ, टेन, गेटे, आर्नल्ड, टालस्टाय, पेटर आदि ने पाश्चात्य आलोचना साहित्य को अपने योगदान से समृद्ध किया और उन्नीसवीं शताब्दी में सौन्दर्यशास्त्र नामक एक नवीन शास्त्र का भी जन्म हुआ तथा कांट को आधुनिक युग में कला सम्बधी चिन्तन का प्रथम मनीषी भी कहा जाता है[३०] लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के पाश्चात्य आलोचको का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण होते हुए भी काव्यरूपो की दृष्टि से वह कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

सामान्यत: "बीसवी शताब्दी में पदार्पण करते ही जो स्थिति चित्र हमारे सामने आता है उसकी रूपरेखा बड़ी धुंधली तथा अस्तव्यस्त है। प्रत्येक कलाकार और आलोचक अतीत से पलायन करने के लिए आतुर दिखाई पड़ता है— विलक्षण धाराओं तथा नूतनता के मोह का बोलबाला है।"[३१] इस प्रकार बीसवी शताब्दी की पाश्चात्य समीक्षा मे प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, अंतश्चेतनावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, उपयोगितावाद, मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद और मार्क्सवाद आदि विभिन्न धारायें प्रवाहित हो रही हैं तथा क्रोचे, सात्र, टॉलस्टॉय, रिचार्डस व कॉडवेल आदि विचारको ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सिद्धान्त-निरूपण भी किया है पर पाश्चात्य समीक्षा के सैद्धांतिक विकास में उनका योगदान स्वीकार करते हुए भी काव्यरूपों के वर्गीकरण की दिशा में उनके योगदान का महत्व प्रतिपादित नही किया जा सकता।

---

२९. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा— प्र. सं डॉ. नगेन्द्र; स. डॉ. सावित्री सिन्हा; भूमिका; पृष्ठ ८

३०. "आधुनिक युग में कला सम्बंधी चिन्तन का प्रथम महामनीषी कांट था, जिसने पूर्वयुग के चिन्तन को बहुत आगे बढ़ाया। इसीलिए वह आधुनिक तत्त्व विचारणा का जनक माना जाता है।"

—नया साहित्य : नये प्रश्न—श्री. नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ ७९

३१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—प्र. सं. डॉ नगेन्द्र; सं. डॉ. सावित्री सिन्हा; भूमिका; पृष्ठ १०

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पाश्चात्य-साहित्यमें काव्य विभाजन का कोई निश्चित स्वरूप नही प्राप्त होता और प्रायः हडसन (William Henry Hudson के विचारों को ही इस दिशा में प्रस्तुत किया जाता है। हडसन ने काव्य के दो प्रमुख भेद विपयीगत या व्यक्तिनिष्ठ (subjective or personal) और विषयगत या वस्तुनिष्ठ (objective or impersonal) मामक माने है। इसके पश्चात उन्होंने विपयीगत या व्यक्तिनिष्ठ काव्य के गीति (लीरिक), विचारात्मक, चिन्तनात्मक, या दार्शनिक काव्य और उल्लास गीत (ओड), करुण गीत, (एलीजी)तथा पद्य पत्र (एपीसिल) नामक चार रूप माने हैं। इसी प्रकार विषयगत काव्य के वह वर्णन या समाख्यान (नेरेशन) और रूपक (ड्रामा) नामक दो प्रमुख भेद मानते हैं तथा वर्णनात्मक काव्य के पद्यात्मक वीरगाथा (बैलेड), महाकाव्य (एपिक) व छन्दोबद्ध रोमांस अर्थात् प्रेमकाव्य तथा निम्नजीवन वर्णन नामक कुछ प्रमुख रूपों की चर्चा करते हैं। साथही स्वगत के भी नाटच गीत (ड्रैमेटिक लिरिक), नाटच कथा (ड्रैमेटिक स्टोरी) व नाटच स्वगत (ड्रैमेटिक मोनोलाग) नामक तीन प्रमुख भेद मानते हैं।[३२]

---

३२. An Introduction to the Study of Literature — W. H. Hudson; P. 96-114

भवभूति की अमर कृति
उत्तर रामचरित

वस्तुतः भवभूति संस्कृत साहित्य के महान निर्माताओं में से एक है[1] और संस्कृत नाट्य साहित्य में तो कालिदास के पश्चात् उन्हें ही स्थान प्रदान किया जाता है तथा संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक राजशेखर ने तो स्वयं को भवभूति का अवतार कहा है। यद्यपि प्राचीन सूक्ति-संग्रहों में भवभूति के नाम से कुछ उद्धरण भी पाये जाते है पर उनका महत्व नकारात्मक ही है और भवभूति को नाटककार के रूप मे ही विशेष ख्याति प्राप्त हुई है।[2] यों तो भवभूति ने महावीर चरित, मालती माधव और उत्तर रामचरित नामक तीन नाटकों का सृजन किया है पर उत्तर रामचरित को ही उनकी श्रेष्ठतम कृति माना जाता है।[3] स्वयं भवभूति ने ही कहा है—"शब्दब्रह्मविदः कते परिणत-

---

1. "भवभूति संस्कृत साहित्य के महान् निर्माताओं में से एक हैं। प्रायः प्रत्येक भाषा के दो चार ऐसे प्रतिभाशाली मनस्वी होते हैं, जिनके बल, व्यक्तित्व और बुद्धि पर उस भाषा का संपूर्ण अस्तित्व निर्भर करता है। भवभूति उन्हीं दो चार यशस्वी प्रणेताओं की कोटि में आते हैं। संस्कृत साहित्य के साथ भवभूति का नाम अमर है।"

   —अक्षर अमर रहें : श्री. वाचस्पति गैरोला; पृष्ठ २०१

2. "संस्कृत साहित्य के सर्वप्रिय नाटककारों में भवभूति का सम्मानपूर्ण स्थान है।"

   —उत्तर रामचरित : अनु. प्रो. इन्द्र; भूमिका; पृष्ठ १

3. "उत्तर रामचरित में भवभूति का काव्य कौशल चरम सीमा को पहुँच गया है।"

   —अक्षर अमर रहें : श्री वाचस्पति गैरोला; पृष्ठ २१०

प्रज्ञस्य वाणीमिमाम्"; यह नाटक निर्विवाद रूप से उनकी परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति है।

उत्तर रामचरित नाटक की कथावस्तु अत्यधिक संक्षिप्त है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड मे एक स्थल पर यह प्रसंग आया है कि एक निराधार लोकोपवाद को सुनकर राम ने सीता का परित्याग कर दिया था। इसी प्रसिद्ध कथा का आधार लेकर ही भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' का सृजन किया है किन्तु रामायण के उपाख्यान की अपेक्षा भवभूति के नाटक मे कई नवीनताएँ भी है जो कि उनकी मौलिकता का परिचय देती हैं। 'उत्तर रामचरित' सात अंकों में समाप्त हुआ है और उसमें नाटककार ने कथावस्तु को इस प्रकार सजाया है-- प्रथम अंक में अंत.पुर मे राम और सीता बैठे हुए है, उसी समय अष्टावक्र मुनि वहाँ प्रवेश करते हैं। राम ने प्रजा की भलाई के लिए सीता तक को त्याग देने की प्रतिज्ञा मुनि के सामने की। उधर लक्ष्मण द्वारा लाये हुए राम के विगत जीवन से सम्बन्वित चित्रों को देखते हुए सीता की अभिलाषा तपोवन देखने की होती है। इधर दुर्मुख नाम के जासूस ने सीता के चरित्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोकोपवाद की सूचना राम को दी और उसे सुनकर राम ने सीता को त्याग देने का निश्चय कर लिया। द्वितीय अंक में राम के पंचवटी वन मे प्रवेश और शूद्रक के वध तथा उनके जन्मस्थान के पर्यटन सम्बन्धी घटनाओं को अंकित किया गया है। तृतीय अंक मे सीता वियोग के फलस्वरूप रामचन्द्र, वासन्ती, तमसा और छाया-सीता के सामने विलाप करते है। इसी अंक के विष्कंभक में तमसा और मुरला के सम्भाषण द्वारा जान पड़ता है कि राम ने सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनाकर उसे ही सहधर्मिणी मानकर अश्वमेध यज्ञ किया है। इसी अंक में भवभूति ने यह भी चित्रित किया है कि वनवास की दशा में एक दिन प्रसव वेदना से पीड़ित होकर सीता गगा मे कूद पड़ती है किन्तु पृथ्वी तथा गंगा उनको पाताल में ले जाकर रख देती हैं और उनके दोनो यमजकुमारों लव और शिशु को महर्षि वाल्मीकि को सौंप देती हैं। चतुर्थ अंक में जनक, अरुन्धती और कौशल्या के वर्णन के साथ-साथ नाटककार ने लव के साथ उनकी भेंट करा दी है तथा पंचम अंक में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का प्रसंग अंकित है। षष्ठम अंक में विष्कंभक में विद्याधर और विद्याधरी के पारस्परिक संभाषण द्वारा लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन किया गया है। राम से लव, कुश और चन्द्रकेतु की भेंट भी इसी अंक में होती है तथा कुश द्वारा वाल्मीकि कृत रामायण की कथा का ज्ञान भी होता है। सप्तम अंक में राम-सीता-वनवास का अभिनय देखते हैं। अंत में राम और सीता का पुनर्मिलन हो जाता है।

प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित होते रहे हैं; अतः यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उत्तर रामचरित के पूर्व पद्मपुराण के उत्तर पाताल खंड की रचना हो चुकी थी या नही। इसी प्रकार प्रायः अधिकांश विद्वानों ने उत्तर रामचरित के तृतीय अंक के छाया-सीता सम्बन्धी वर्णन को मौलिक कल्पना ही माना है किन्तु कुछ आलोचको ने इस विषय में विपरीत मत भी प्रकट किए हैं। 'उत्तर रामचरित' के गुजराती अनुवाद की भूमिका मे श्री उमाशंकर जोशी ने दिगनाग की नाट्य-कृति 'कुन्दमाला' से उत्तर रामचरित की तुलना करते हुए 'उत्तर रामचरित' को कुदमाला से अत्यधिक प्रभावित माना हैं और छाया-सीता सम्बन्धी कल्पना को वह भवभूति की मौलिक उद्भावना नहीं मानते। श्री उमाशंकर जोशी ने कुंदमाला का रचियता पाँचवी शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग को समझ लिया है, जिनका उल्लेख कालिदास के 'पूर्व मेघदूत' में हुआ है और जिनको मल्लिनाथ ने तत्सम्बन्धी पद्य की टीका मे कालिदास का समकालीन और प्रति-स्पर्धी माना है, किन्तु वास्तव में कुन्दमाला के रचियता बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग नहीं हैं वलिक ईसा की दसवी शताब्दी मे किसी दूसरे दिग्नाग द्वारा उसकी रचना हुई है।[५] सच तो यह है कि भवभूति के पूर्ववर्ती साहित्य मे कही भी 'कुंदमाला' का उल्लेख नही मिलता और सर्वप्रथम रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण (११०० ई.) मे ही उसका उल्लेख मिलता है अतः हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'कुंदमाला' उत्तर रामचरित की अपेक्षा परवर्ती कृति है और श्री डे (S. K. De) ने तो स्पष्टतया कहा है कि उत्तर रामचरित को कुदमाला से प्रभावित मानना निराधार ही प्रतीत होता है।[६]

इसमे कोई सन्देह नही कि भवभूति की नाट्य कृतियाँ कही कही कालिदास की कृतियो से अवश्य प्रभावित हुई है और जहाँ कि 'मालती माधव' पर विक्रमोर्वशीय तथा मेघदूत का प्रभाव पड़ा है वहाँ उत्तर रामचरित भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'रघुवंश' से प्रभावित-सा जान पड़ता है।[७] इस प्रकार 'उत्तर

५. Kundmala and Uttar Ramcharita—K. A. Subromania Iyer; Oriental Conference, 1933; pp. 91. 97.

६. History of Sanskrit Literature, p. 63; footnote 1.

७. "कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल ... की छाया भवभूति के उत्तर रामचरित पर कही कही अवश्य दिखाई देती है। उदाहरण-रूप में, सीता तथा शकुन्तला—दोनों का अपने पतियो द्वारा परित्याग किया जाता है, और वह भी तव जव कि दोनो के गर्भ मे सन्तान है। राम और दुष्यंत समान रूप से पत्नी परित्याग के वाद विवाद-ग्रस्त हो जाते हैं। दोनो का अपनी पत्नियों के साथ सुदूर आश्रमो में पुनर्मिलन होता है और वह भी अपने परिचित पुत्रो के द्वारा।"
—उत्तर रामचरित : हिन्दी अनुवादक प्रो. इन्द्र एम. ए, भूमिका; पृ. १२

रामचरित' नाटक के प्रथम अंक के चित्रदर्शन दृश्य की कल्पना भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न वासवदत्ता' के चित्रदर्शन दृश्य से या कालिदास की 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से ली गई प्रतीत होती है--

तयोर्यथा प्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषीः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सचिन्त्य वा नानिमुखान्यभूवन् ।।

'उत्तर रामचरित' के छठवें अंक में राम और लवकुश के अज्ञात मिलन की कल्पना बहुत कुछ अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक में दुष्यंत और भरत के अज्ञात मिलन के अनुरूप ही है[८] तथा श्री बेलवलकर (S. K. Belwalkar) ने उत्तर रामचरित के मराठी अनुवाद की भूमिका में सुखद सम्मिलन के उक्त दोनों दृश्यों पर तुलनात्मक प्रकाश भी डाला है । इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल के छठवें अंक में दुष्यन्त की विरह-दशा को देखकर जिस प्रकार सानुमती कहती है--'सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेश दुःखं शकुन्तलायाः' उसी प्रकार सीता भी अपने पति राम के सम्बन्ध में कहती हैं--'अहो उत्तरवातमिदानी में परित्याग[a] लज्जाशल्यमार्यपुत्रेण' । यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ विद्वानों ने छाया-सीता की कल्पना का मूल स्रोत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का छठा अंक मान लिया है जिसमें कि सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से दुष्यन्त की विरह दशा का अवलोकन करती है । साथ ही 'उत्तर रामचरित' के चतुर्थ अंक के चौथे श्लोक में सीता के शिशु रूप का वर्णन बहुत कुछ 'अभिज्ञान शाकुंतल' के सातवें अंक के सत्रहवें श्लोक में वर्णित सर्वदमन के चित्रण के सदृश्य ही है ।

भवभूति का 'उत्तर रामचरित' भास की स्वप्नवासवदत्ता से भी प्रभावित है और विचारकों का कहना है कि "महाकवि भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक (अंक ५) में महाराजा उदयन अपनी प्रेयसी वासवदत्ता को (जिसकी मृत्यु मंत्री यौगन्धारायण ने आग में जल जाने के कारण घोषित कर दी थी—परन्तु जो वस्तुतः जीवित थी) स्वप्न में देखते हैं और नींद में ही रोना आरम्भ करते हैं ।

---

८. उदाहरणार्थ; अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक में दुष्यन्त सर्वदमन को देख कर कहता है--

अस्य बालकस्य रूपसंवादिनी आकृतिः

इस कथन की उत्तर रामचरित के छठवें अंक के निम्न कथन से सादृश्यता स्पष्ट है और हम देखते हैं कि इसमें राम ने लव को देखने के पश्चात इसी प्रकार कहा है—

अये ! न केवलमस्मत् संवादिनी आकृतिः ।

उस समय वासवदत्ता आती है, महाराज के अंगों का स्पर्श करती है और लौट जाती है। उदयन स्पर्श-सुख का अनुभव करने के साथ ही उठ बैठते हैं परन्तु वासवदत्ता को न देखकर अधिक विलाप करते हैं।

उत्तर रामचरित में लगभग ऐसा ही दृश्य सीता-स्पर्श से राम के सम्बन्ध में दिखाया गया है। राम उन्मत्त होकर वासन्ती से कहते हैं, मैंने अभी सीता को देखा है।

स्वप्न वासवदत्ता मे उद्धरण इस प्रकार है :

उदयन--मित्र (विदूषक)! तुम्हारे लिए एक अच्छा समाचार है, वासवदत्ता जीवित है।

विदूषक--हाय! वासवदत्ता, कहाँ है वासवदत्ता? वह तो कब की मर चुकी।

उदयन--नही, मित्र नही! मैं आधा जाग रहा था जब वह आई। अपने मधुर स्पर्श से उसने मुझे उठाया और फिर चली गई। रुमण्वत् ने मुझे यह कह कर धोखा दिया है कि वह मर चुकी है।

उत्तर रामचरित मे एतत्सदृश्य ही प्रकरण है :--

राम--सखि वासन्ती, तुम्हारा सौभाग्य उदय हुआ आज।

वासन्ती--वह कैसे महाराज!

राम--सीता मुझे मिल गई है।

वासन्ती--महाराज, वह कहाँ है?

राम--वह देखो, तुम्हारे सामने खड़ी है।

निस्संदेह भास, कालिदास तथा भवभूति भारत की नाट्य-कला-परम्परा के परस्पर गुंथे हुए एक ही तार के मोती हैं। उत्तरकालीन कवियों पर इन्ही तीन की अमिट छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। निस्संशय भवभूति पर अपने पूर्ववर्ती दोनो महाकवियो की भी छाप है।"[१]

सामान्यतः किसी भी नाटक की कथावस्तु पर विचार करते समय यह भी देखा जाता है कि उसमे घटनाओ की ऐक्यता, सार्थकता, स्वाभाविकता और घात-प्रतिघात की गति है या नही। उत्तर रामचरित मे सबसे बड़ी त्रुटि तो यह पायी जाती है कि उसकी कथावस्तु नाटक के लिए उपयुक्त न थी और उसमें भास की स्वप्नवासवदत्ता तथा कालिदास की अभिज्ञान शाकुन्तल की भाँति नायक-नायिका का पारस्परिक वियोग कराकर अंत में सम्मिलन करा

१. उत्तर रामचरित--हिन्दी अनुवादक प्रो. इन्द्र; भूमिका; पृ. १३।१४

भवभूति को 'उत्तर रामचरित' के अन्त मे राम और सीता का मिलन कराना पड़ा है और इससे चाहे नाट्यशास्त्र के नियमो की रक्षा अवश्य हो गई हो परन्तु कथावस्तु और घटनाओ मे अधिक स्वाभाविकता नही दीख पड़ती। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि 'स्वप्नवासवदत्ता' मे उदयन और वासवदत्ता के पुर्नमिलन मे तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनः सयोग मे ऐसी अस्वाभाविकता नही दृष्टिगोचर होती। साथ ही 'उत्तर रामचरित' मे वर्णनात्मक प्रसंगो की अधिकता और घटनाओं की न्यूनता सी पाई जाती है तथा मेक्डॉनल महोदय ने तो वर्णनात्मक प्रसंगो की प्रचुरता के कारण हो उसे नाटक न मानकर नाट्य काव्य माना है। यद्यपि 'उत्तर रामचरित' मे घटनाओ का ऐक्य अवश्य दीख पड़ता है पर घटनाओं की सार्थकता का कही-कही स्पष्टतया अभाव-सा है और प्रथम अंक मे राम व सीता का वियोग वर्णन है तथा सातवे अंक मे मिलन। इस प्रकार दूसरे अंक से लेकर छठे अंक तक की घटनाएँ यदि न भी होती तो भी राम और सीता का मिलन हो सकता था। यो तो भावो का चरमोत्कर्ष प्रत्येक अंक मे देख पड़ता है पर घटनाएँ स्वाभाविक और सार्थक नही प्रतीत होती। चूँकि प्राचीन आचार्यों ने रंगमंच पर युद्ध का दृश्य दिखाने का निषेध किया है अतः भवभूति ने भी लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन छठवे अक के विष्कंभक मे विद्याधर और विद्याधरी की बातचीत के अतर्गत ही किया है पर कवित्व की दृष्टि से चाहे इस युद्धवर्णन का कुछ महत्व हो भी लेकिन नाटकत्व की दृष्टि से इस विस्तृत युद्ध वर्णन की कोई आवश्यकता न थी। निस्सदेह उत्तर रामचरित में विष्कंभकों का प्रयोग अत्यन्त कुशलतापूर्वक हुआ है और कथावस्तु के निर्वाह तथा प्रवाह के लिए वह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं। साथही भवभूति ने सातवे अंक के गर्भांक की सृष्टि कर नाटक को सुखात बनाने मे सफलता-भी प्राप्त की है और नाट्यकला की दृष्टि से इस गर्भांक का पर्याप्त महत्व है।

'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु में जो एकसूत्रता और स्वाभाविकता का अभाव देख पड़ता है उसका कारण यही है कि नाटककार ने जितना अधिक ध्यान अपनी नाट्यकृति के प्रधान पात्रो के चरित्र-चित्रण की ओर दिया है उतना कथावस्तु की ओर नही। यद्यपि उत्तर रामचरित मे अनेक पात्रो की अवतारणा की गई है पर राम और सीता ही प्रधान पात्र है तथा वह दोनो ही वाल्मीकि रामायण के राम व सीता से पूर्णतः भिन्न हैं। वस्तुतः आदि कवि वाल्मीकि ने राम को एक महापुरुष मात्र मानकर उनके मानवीय चरित्र का चित्रण किया था[११] किन्तु भवभूति के समय में राम देवता के रूप मे स्वीकार किए जा चुके

---

११. अनुभूति और अध्ययन — दुर्गाशकर मिश्र; पृष्ठ ६६

थे अतः उत्तर रामचरित मे उन्हें देवता ही माना गया है। यद्यपि कथावस्तु को देखते हुए राम का चरित्र-चित्रण नाट्यशास्त्र के नियमानुसार—नायक को सर्वगुण सम्पन्न मानकर चलना—कोई आसान कार्य नही था पर भवभूति को राम के चरित्र-चित्रण में निस्सदेह अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और उत्तर रामचरित के राम देवता होते हुए भी एक आदर्श मानव ही हैं।[१२]

यहाँ यह स्मरणीय है कि वाल्मीकि के राम ने वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये पतिव्रता सीता को छल से वन भेजा था पर भवभूति ने ऐसा न कर राम

---

१२. "In Rama, the hero of the play, perfect ideal of manhood has been drawn. It is hardly possible to conceive a higher ideal. Both in his private and public capacities–as a house-holder and a king he shines out like a brilliant and maghificent star to guide the staps of erring humanity. As a house holder, the two fold aspect of his character viz. as husband, and father has been set forth in very brilliant colours in the drama; the other two aspects, viz. as son and brother have been left in the back ground, in as much as there was no occasion in the drama for a fuller treatment of them. As a faithful and affectionate husband he stands unrivalled. Though he had to banish his beloved wife in obedience to the call of a higher duty, yet his affection for her did never under go the slighttest change. Through out his life he cnvinced by his conduct his unbounded and pure affection for his wife. The heart-rending cries and almost frantic movements on account of the pangs of separation from his dearest wife though they disclose the depth of his love, verge almost on sentimentalism and mark the transition from a heroic age to an age of sentiment. It should be noted here that Bhavabhuti's conception of conjugal love is of a very high order, it is free from all taints-of sordid selfishness and sensualism and is characterised by self abnegation and the losing of one's personality in that of the other."
–Uttara Ramcharitam –Edi. B. Goswami; Introduction; P. 24–25.

के चरित्र को समुज्जवल रूप प्रदान किया है और 'उत्तर रामचरित' में राम राजा का प्रधान धर्म प्रजारंजन व लोकहित ही मानते है तथा प्रथम अंक में ही राम ने अष्टावक्र मुनि के सामने प्रतिज्ञा करते हुए कहा था कि लोकहित के लिये मुझे यदि सीता को भी छोड़ना पड़े तो तनिक भी व्यथा न होगी। इसी प्रकार शूद्रक (शम्बूक) वध सम्बन्धी घटना में भी वाल्मीकि रामायण और उत्तर रामचरित मे असमानता सी दीख पड़ती है और आदि कवि के राम ने शूद्रक (शम्बूक) का वध इसलिए किया था क्योकि वह शूद्रक होकर तपस्या कर रहा था पर भवभूति के राम ने उसे शाप से मुक्त करने के लिये कृपापूर्वक उसका सिर कृपाण से काटकर अलग कर दिया था। इस प्रकार भवभूति ने यथासभव राम के चरित्र के उन्ही पहलुओ को चित्रित किया है जो कि एक आदर्श चरित्र के लिए अत्यावश्यक है। यो तो राम ने सीता को निर्वासित करके धर्म का काम किया या अधर्म का और राम का निरुपाय व निरपराध सीता को वनवास का दंड देना क्या उचित माना जा सकता है आदि प्रश्नों मे विद्वान एकमत नही है पर हमारी दृष्टि मे राम का यह कार्य उनकी महानता का द्योतक है और रामराज्य की कामना इसलिए की जाती है क्योकि राम ने प्रजारंजन के लिए सीता तक को निर्वासित कर दिया था। हमें यह न भूलना चाहिये कि सीता के वियोग मे राम को भी दुःख हुआ था और उनकी विरह-दशा का भवभूति ने विस्तारपूर्वक वर्णन भी किया है।[13] साथ ही उनके हृदय मे सीता के प्रति असीम अनुराग था और यही कारण है कि उन्होने सीता को वन भेजने के उपरान्त दूसरा विवाह नही किया तथा अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर यज्ञ सम्पन्न किया था। हो सकता है कि राजा के रूप में उनका हृदय पाषाण से भी कठोर हो और वह प्रेम से अधिक कर्त्तव्य को महत्व

---

१३. उदाहरणार्थ; राम सीता-विसर्जन की पीड़ा को सहन नही कर पाते और विलाप करते हुए यही कहते हैं——

शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियां, सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्।
छद्मना परिददामि मृत्यवे, शौनिके गृहशकुन्तिकामिव॥

इसी प्रकार दंडकारण्य मे भी वह प्रिया सीता की स्मृतियों से व्यथित हो करुण क्रन्दन करते हुए कहते हैं ——

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

देते हों पर वास्तव में उनका हृदय कुसुम से भी कोमल जान पड़ता है।[१४] निस्संदेह भवभूति के राम के विरह में जैसी स्वाभाविकता विद्यमान है वैसी बहुत कम स्थानों पर दीख पड़ती है और उनका चरित्र अतुलनीय ही है तथा नाटक के वह एक महान पात्र है।

राम की भाँति उत्तर रामचरित की सीता का चरित्र भी आदर्श माना जा सकता है[१५] पर उनका चरित्र अत्यधिक करुणापूर्ण ही है तथा नाटक में प्रारंभ से अंत तक हमें सीता में धैर्य, गांभीर्य, मर्यादा, संतोष व सहनशीलता के दर्शन होते हैं। यद्यपि श्री. द्विजेन्द्रलाल राय का कहना है कि "भवभूति के नाटक में सीता का चरित्र अच्छी तरह प्रस्फुटित ही नहीं हुआ। जो कुछ स्पष्ट हुआ है, वह उनका अपार्थिव सतीत्व! .....भवभूति की सीता नाटक की नायिका नहीं है, कविता की कल्पना है।" [१६] पर हम इस कथन से सहमत नही है और हमारा तो यही कहना है कि सीता को 'आत्मचिन्ताशून्य' मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है क्योंकि राम के, अष्टावक्र मुनि के सामने, यह कहने पर कि प्रजारंजन के लिए यदि मुझे सीता तक को त्याग देना पड़े तो भी मै तनिक भी विचलित न होऊँगा, सीता ने पतिपरायण पत्नी की भाँति इस बात से व्यथित न होकर 'अतएव राघवकुलधुरंधर आर्यपुत्र.' कहकर उचित ही किया था। इसी प्रकार चित्रदर्शन मे भी अपने विरह में राम को रुदन करते हुए देखकर सीता के नैन भर आते हैं और कहती हैं 'आर्य देव रघुकुलानन्द एवं मम कारणात् क्लिष्टोऽसि।' वस्तुतः सीता के हृदय में राम के प्रति सर्वदा ही असीम अनुराग रहा है और 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति 'उत्तर रामचरित' में वनवास के अवसर पर सीता राम के कृत्य की न केवल तनिक भी आलोचना नही करतीं

---

१४. वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणा चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

१५. "भवभूति की सीता भारत की आदर्श नारी है। उसका अपने प्रियतम के प्रति उच्छृंखल प्रेम नही है। वह राम में निष्कारण प्रीति एवं भक्ति रखती है। सीता अपने पति की प्यारी है। उसका प्रत्याख्यान राजधर्म-पालन से विवश होकर पति द्वारा किया गया; प्रेम की किसी न्यूनता के कारण नही।"
— उत्तररामचरित : हिन्दी अनुवादक प्रो. इन्द्र; भूमिका पृष्ठ १८

१६. कालिदास और भवभूति – श्री. द्विजेन्द्रलालराय; हिन्दी अनुवादक पं. रूपनारायण पांडेय; पृष्ठ ७०

अपितु लक्ष्मण के द्वारा राम के पास जो अपना संदेश भेजती हैं वह निस्संदेह एक अभिमानिनी साध्वी की उक्ति ही कही जाएगी।[१७] सच तो यह है कि सीता मानव समाज के समक्ष सती-वधुओं का आदर्श रखतीं हुई उत्कृष्ट चरित्र-पथ-प्रदर्शन मे राम की समता करने मे पूर्णतः सफल हुई हैं और समीक्षको ने तो उनके चरित्र की भूरि-भूरि सराहना भी की है[१८] तथा स्वयं राम ने ही सीता की प्रशंसा करते हुए एक स्थल पर कहा है --

> इय गेहे लक्ष्मीरियममृत वर्तिर्नयनयो–
> रसावस्यः स्पर्शो वपुषि वहुलश्चन्दन रसः।
> अय वाहुः कंठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
> किमस्या त प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

---

१७. देखिए --

> जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
> भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
> अहं त्यक्ता च ते वीर अयशो भीरुणा वने।
> यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
> वक्तव्यश्चेवः नृपतिः धर्मेण सुसमाहितः।
> मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः॥
> यथा भ्रातृषु वर्त्तेथास्तथा पौरेषु नियश:।
> परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्त्तिरनुत्तमा॥
> यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
> अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
> यथापवाद. पौराणा तथैव रघुनन्दन।
> पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धु पतिर्गुरः॥
> प्राणैरपि प्रियं तस्मात् भर्त्तुं कार्यं विशेषतः।
> इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यौ मम संग्रहः॥

१८. "Sita is the perfect type of womanhood as conceived by the Indo-Aryan mind. She had no consideration of her own self; the personality of her lord was all in all to her; and she merged her own individuality in that of her lord..... Such a noble picture of self-abnegation and ungrudging submission to the will of her lord is rare in the world's literature."

— Uttara Rama Charitam : Edi. B. Goswami; Introduction; pp. 26.

उत्तररामचरित के अन्य पात्र वासन्ती, लव, कुश, चन्द्रकेतु, वाल्मीकि, जनक, लक्ष्मण, आत्रेयी, शूद्रक, तमसा और मुरला आदि हैं पर इनमें से वासन्ती, लव और चन्द्रकेतु का चरित्र ही कुछ विस्तार के साथ अंकित हुआ है लेकिन उक्त सभी पात्र सहायक पात्र ही हैं। इसके बावजूद हम यह मानते है कि उत्तररामचरित में लव का क्षत्रियत्व, अभिमान और तेज, वाल्मीकि की परशोककातरता, लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति, वासन्ती की तेजस्विता और चन्द्रकेतु की सहृदयता तथा शूरता भी प्रसंगानुसार चित्रित की गई हैं तथा उनके अंकन में नाटककार को अप्रतिम सफलता भी प्राप्त हुई है।

बंग-साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार और समालोचक श्री. द्विजेन्द्रलाल राय ने कवित्व को भी नाटक का एक अंग माना है[१९] तथा 'उत्तर रामचरित' में तो नाटकत्व की अपेक्षा कवित्व की ही प्रधानता है। चूँकि भवभूति एक कुशल कवि थे अतः उन्होंने प्रकृति सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य दोनों का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है पर उनकी मनोवृत्ति प्रकृति चित्रण में विशेष रूप से रमी है।[२०] इस प्रकार अभ्रकंप गिरि गह्वरों, निविड़ काननों, झरझर झरते हुए झरनों, दुष्प्रवेश उपत्यकाओं का सजीव चित्रण करने में जहाँ वे सफल रहे हैं वहाँ प्रकृति के मृदुल और कल्पनास्पर्शी रूप—इन्द्रधनुपरंजित विद्युत घोष, सुमधुर पवन संचार, मयूरनादी मुदूर मेघमाला, पुष्पित लताएँ, स्फुटोन्मुख किशलय, सुखमय उपवन आदि—का चित्रण करने में भी उन्हें अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है।[२१]

---

१९. कालिदास और भवभूति—श्री. द्विजेन्द्रलाल राय; हिन्दी अनु॰ श्री. रूपनारायण पांडे; पृष्ठ ९३–९७

२०. "भवभूति जैसा प्रकृति निरीक्षण बहुत कम कवि कर सके हैं। इसका कारण है कि भवभूति प्रकृति के सच्चे उपासक रहे हैं। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण अपनी आँखों से किया है। विदर्भ प्रदेश को, जहाँ कि भवभूति की जन्मभूमि है, प्रकृति का वन्य स्वरूप उनके नाटकों में यत्रतत्र आया है।"

—अक्षर अमर रहें : श्री. वाचस्पति गैरोला; पृष्ठ २०८

२१. जहाँ कि भवभूति ने उत्तर रामचरित में दंडकारण्य की भीषणता का वर्णन करते हुए कहा है—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चंडसत्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीर घोष भुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयाः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो या स्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥

निंस्संदेह कालिदास की भाँति भवभूति के वर्णन में उतनी अधिक कमनीयता नहीं पाई जाती क्योकि भवभूति की सीता एक देवी---आदर्श महिला---के रूप में ही चित्रित की गई हैं और नाटककार सीता के गुणो पर इतना अधिक मुग्ध हो गया कि उसे उनके वाह्य सौन्दर्य चित्रण की आवश्यकता ही न प्रतीत हुई[२२] पर इतना होते हुए भी उन्होने सीता के मुख का वर्णन दो बार अवश्य किया है। एक बार तो विवाह के अवसर पर सीता के रूप का वर्णन किया गया है[२३] और दूसरी बार नाटककार ने तमसा द्वारा विरहिणी सीता का वर्णन करवाया है[२४] तथा हम यह कह सकते हैं कि कालिदास का वर्णन आलंकारिक अधिक है जबकि भवभूति का भावात्मक ही है। श्री. द्विजेन्द्रलाल राय के शब्दो मे "बात यह है कि सीता का बाहरी रूप देखने का अवसर ही भवभूति को नही है। वे सीता के गुणो पर ही मुग्ध है। भवभूति का यह वर्णन इतना पवित्र, इतना उच्च है कि वे अवश्य सीता को मातृभाव से देखते है। माता के रूप का वर्णन और हो ही क्या सकता है ? सर्वांग मे, भीतर बाहर, बातचीत और हाव भाव में, माता सर्वत्र माता ही है, और कुछ नही।"[२५]

वहाँ उन्होने पर्वतो पर प्रवाहित होनेवाले निर्झरो की मनमोहिनी झाँकी भी अंकित की है—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्–
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज–
स्खलनमुखरभूरिस्त्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

२२. वस्तुतः उसके रूप चित्रण का तो कोई प्रश्न नही उठता जिसके सम्बंध मे स्वयं राम ही इस प्रकार के विचार व्यक्त करते है--

उत्पत्ति परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः ।
तीर्थोदकंच वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥

२३. प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहर कुन्तलैः
दशनमुकुलैर्मुग्धालोक शिशुर्दधती मुखम् ।
ललित ललितैर्ज्योत्स्ना प्रायैरकृत्रिम विभ्रमै—
रकृतमधुरैरम्बानां मे कुतूहलमगकैः ॥

२४. परिपांडुदुर्बलपोलसुन्दरं
दधती विलोलकवरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरिव वा शारीणी
विरहव्यथेय वनमेति जानकी ॥

२५. कालिदास और भवभूति---श्री द्विजेन्द्रलाल राय; हि. अनु. श्री रूपनारायण पांडेय; पृष्ठ १०८

जैसा कि भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' के प्रारंभ में ही कहा है—'यं ब्रह्माणमिदं देवी वाग् वश्येवानुवर्तते' —वास्तव में संस्कृत भाषा पर उनका व्यापक अधिकार था और उनकी शैली का विशिष्ट गुण उनका समुचित शब्द विन्यास ही है तथा देश, काल, पात्र एवम् भावों के अनुरूप ही उन्होंने सर्वत्र शब्दयोजना की है। कालिदास के विपरीत भवभूति गौड़ी वृत्ति के आदर्श लेखक हैं और स्वयं ही अपनी शैली का आदर्श बतलाते हुए उन्होंने कहा है—

यत्प्रौढ़त्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पांडित्यवैदग्ध्ययोः ॥

यद्यपि उनकी कृति में दीर्घ सामासिक शब्दावली, प्रौढ़ और प्रांजल भाषा तथा ओज गुण की बहुलता सी दृष्टिगोचर होती है पर गौड़ी शैली के आचार्य होते हुए भी उन्होंने अन्तर्जगत का हृदयस्पर्शी चित्रण करते समय वैदर्भी वृत्ति का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा के प्रयोग में उन्हें पूर्ण सफलता मिली हैं और मिल्टन के सदृश्य भवभूति भी किसी भाव या घटना को संक्षेप में ही अंकित करने में पूर्ण सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। साथ ही अलंकारों की अभिव्यक्ति में भी वह पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सर्वत्र ही उन्होंने मौलिक उपमाओं की उद्भावना की है।[२६] भवभूति में अनुप्रास-प्रियता भी विद्यमान थी और जहाँ कि "गद्गदनगदोदावरी वारयः", 'नीरन्ध्रनीलनिचुलानि' एवम् 'स्नेहादनराल नाल नलिनी' जैसी सरस अनुप्रास युक्त पंक्तियां उत्तर रामचरित में दृष्टिगोचर होती हैं वहाँ 'कूजत्कान्त कपोत कुक्कुटकुलाः कूले कुलाय द्रुमाः के समान प्रयोग भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार उत्तर रामचरित में कन्दल, प्रतिसूर्यक, कुम्भनीस, उत्पीड़ और आकूत जैसे कई नवीन शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो कि 'अमरकोश' तक में नहीं दृष्टिगोचर होते। छन्द योजना में भी भवभूति पूर्ण सफल रहे हैं और शिखरिणी, शार्दूल विक्रीडित एवम् वसन्ततिलका उनके प्रिय छन्द हैं तथा उनकी शिखरिणी की प्रशंसा करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में लिखा भी है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥

---

२६. उदाहरणार्थ—

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मःश्रित इव तनुं ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः संचयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥

भवभूति की वर्णनशक्ति भी अद्भूत थी[२७] और एक ही कृति मे कई रसों की व्यंजना करने में भी वह पूर्ण सफल रहे है तथा उत्तर रामचरित के एक ही श्लोक मे अनेक रसो का जितना सुन्दर सहज समन्वय उन्होने प्रस्तुत किया है[२८] उतनावहुत ही कम दूसरे कवियो ने किया। यद्यपि महामुनि भरत के मतानुसार नाटक का प्रधान रस शृंगार या वीर ही होना चाहिए और नाटयशास्त्र के इस नियम के अनुसार कुछ विद्वान उत्तर रामचरित का प्रमुख रस विप्रलम्भ शृंगार ही मानते है पर वास्तव में वह करुण रस प्रधान नाटक है और 'कारुण्यं भवभूतिदेव तनुते' के अनुसार करुण रस की व्यजना मे उनकी समकक्षता करने वाला अन्य कोई कवि नही है। वास्तव मे भवभूति करुण रस के ही रसिक थे

---

२७. यहाँ उदाहरणार्थ उत्तर रामचरित से युद्ध वर्णन का कुछ अंश उद्धत किया जा रहा है और हम देखते है कि लव के चलाए जृंभकास्त्र को देखकर चद्रकेतु कहता है—

व्यतिकर इव भीमस्त्रामसो वैद्युतश्च
प्रणिहितमपि चक्षुग्रस्तमुक्तं हिमस्ति।
अथ लिखितमिवेतत्सैन्यभस्पदमास्ते
नियतमजितवीर्यं जमृते जभृकास्त्रम्॥

आश्चर्यमाश्चर्यं—

पातालोदरकुंजपुजिततमम:श्यामैर्नभो जंमृके-
रुत्तप्तेस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलदीप्तिभि:
कल्पाक्षेपकठोरभैवरमरुद्धुस्त्रैरव स्त्रीर्यते
मीलन्मेघतडित्कडार कुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव॥

२८. जिस प्रकार निम्न छन्द में अद्भुत और वीर का सुन्दर समन्वय किया गया है—

आंगुज्जदिगरि कुंज कुंजर घटा विस्तीर्ण कर्णं ज्वरं
ज्यानिर्धोप मन्ददुन्दुभिरवैराह मातमुज्जृम्भयत्।
वेल्लद्भख रुड मुड निकरैर्वीरो विधते भुव—
स्तृप्यत्काल करालवक्तृविधसम्याकीर्य माणम्लिव॥

इसी प्रकार शृंगार और करुणा का भी सहज सामंजस्य हुआ है—

अलसलुलित मुग्धान्यध्वसपातखेदा—
दशिथिल परिम्भैर्दत्त संवाहनानि।
परिमृदित मृणाली दुर्वलान्यंगकामि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

और अन्य सभी रसो को करुण के ही आधीन मानते थे[२९] अतः 'उत्तर रामचरित' के समस्त अंक स्पष्टतः या प्रकारान्तर से पाठकों या दर्शकों के मानस में कारुण्य भावनाओ का ही उद्रेक करते हैं। साथ ही उत्तर रामचरित में प्रारंभ से अंत तक करुण रस की जो शैवालिनी प्रवाहित हुई है वह संस्कृत साहित्य की अक्षय निधि मानी जाती है और श्री गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती में कहा भी है—

भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधर भूरेव भारती भाति।
एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

करुण की भाँति वीर रस की व्यंजना में भी भवभूति अद्वितीय माने जाते हैं और 'उत्तर रामचरित' में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है पर नाट्यशास्त्र के नियमों की रक्षा के हेतु विद्याधर-विद्याधरी के संभाषण में ही इस युद्ध का वृत्तांत कर्णगोचर होता है। इसी प्रकार विशुद्ध प्रेम के चित्रण में भवभूति को अनुपम सफलता मिली है और कालिदास व शेक्सपियर की भाँति उन्होंने वासनामूलक शृंगार-रस-पूर्ण सूक्तियों की अभिव्यंजना नही की तथा प्रेमविषयक अपने उच्च आदर्श के कारण[३०] उन्होने उत्तर रामचरित में विदूषक को भी कोई स्थान नही दिया। संभवतः यही कारण है कि उत्तर राम चरित में एक दो स्थलों पर ही हास्य की अभिव्यक्ति हुई है और वहाँ भी संयत एवं शिष्ट हास्य ही दृष्टिगोचर होता है।

---

२९. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुदतरंगमयान् विकरान्
अंभो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥

३०. भवभूति ने प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यास्मिन्नतार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्सस्नेह सारे स्थितं
भद्र तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

साथ ही वह दाम्पत्य प्रेम की परिणति संतान-प्राप्ति में ही मानते हैं—

अन्तःकरणतत्त्वस्यदम्पत्योः स्नेहसंश्रायतन्।
आनन्दग्रंथिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि उत्तर रामचरित संस्कृत साहित्य की महान कृतियों में से है और भले ही उसमे समस्त नाटकीय तत्त्वों का समावेश कुशलतापूर्वक न होने के कारण वह नाटक की अपेक्षा नाटकीय काव्य कहलाती हो पर संस्कृत नाटकों की परम्परा में उसका महत्वपूर्ण स्थान तो है ही। साथ ही 'मालती माधव' नाटक की भूमिका में जो गर्वोक्ति भवभूति ने की थी वह 'उत्तर रामचरित' मे अवश्य ही सार्थक हो गई है--

ये नाम केचिदिह नः प्रथमन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्वः।
उत्पत्स्यन्तेऽस्ति मम कोपि समान धर्म्मा
कालो ह्य निरवधिविपुला च पृथ्वी।'

नंददास की कविता पर एक नवीन दृष्टि

ईसा की सोलहवी शताव्दी मे भारतवर्ष में राम और कृष्ण को प्रतीक बनाकर सगुणवादी काव्य की जो भाव धारा सम्पूर्ण देश मे प्रवाहित होने लगी—वस्तुतः उसका मूल स्रोत ऋग्वेद ही है। चाहे कृष्ण काव्य की निर्झरिणी का उद्गम जयदेव के 'गीत गोविन्द' को ही अवश्य समझ लिया जाय पर वास्तविकता तो यह है कि राधाकृष्ण की कथा का अंकन तो जयदेव के पूर्व भी गाथा-सप्तशती, सरस्वती कंठाभरण आदि कृतियों, पाँचवी-छठी शताव्दी की देवगिरि और पहाडपुर की प्रतिमाओं, सन ९७४ ई. तथा सन् ९७९ ई. के पृथ्वीवल्लभ मुंज के ताम्र पत्रों तथा धारा के अमोघवर्ष के सन् ९८० ई० के शिलालेख तक मे किसी न किसी रूप में हुआ है। यो तो पुराणो और उपनिषदों में तथा ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८५, ८६ तथा ८७ एवम् दशम मंडल के ४२, ४३ और ४४ वें सूक्त में भी कृष्ण का वर्णन किया गया है।

हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि कृष्ण को प्रतीक बनाकर न केवल हिन्दी कवियों ने अपनी अनुभूतियों को काव्य का रूप प्रदान किया अपितु विभिन्न प्रांतीय भाषाओ मे भी राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं को कविता का विषय बनाया गया। इस प्रकार आसाम में शंकर नामक महाकवि द्वारा किया गया श्रीमद्भागवत का काव्यानुवाद असम भाषा और साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है तथा राम-सरस्वती नामक कवि ने तो रामायण और महाभारत दोनों का ही असम भाषा में अनुवाद किया है। वंग साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न चैतन्य महाप्रभु और चंडीदास ने जो कृष्ण भक्ति की स्रोतस्विनी प्रवाहित की है उसने न केवल वंग, उत्कल और कर्नाटक को प्रभावित किया है अपितु हिन्दी साहित्य पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है। उत्कल में भी सोलहवीं शताव्दी के आरम्भ मे ही जगन्नाथदास ने भागवत, शारदादास ने महाभारत और अच्युतानन्द ने हरिवंश का काव्यानुवाद किया लेकिन उत्कल भाषा में ही सोलहवी शती में निर्मित 'रस कल्लोल' नामक ग्रंथ, जिसमें कि राधाकृष्ण की

प्रेमलीला का ही चित्रण है, मधुरता मे जयदेव के गीत गोविन्द की समता करता है।

अनुमानतः उसी समय तेलगू भाषा मे पोतनामात्य ने---जिन्हे कि पोतराजु या पोतन्ना भी कहा जाता है--- श्रीमद्भागवत का काव्यानुवाद किया और इसमें कोई संदेह नही कि भक्त शिरोमणि पोतन्ना का काव्य कला पक्ष और भाव पक्ष दोनों ही दृष्टियो से निखरा हुआ है तथा हम जिस प्रकार हिन्दी साहित्य मे कृष्ण-काव्य-धारा का प्रवर्तक और श्रेष्ठतम कवि सूरदास को मानते हैं उसी प्रकार तेलगू साहित्य मे कृष्ण काव्य का प्रारम्भकर्ता पोतनामात्य को ही माना जाता है। श्री. हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' के शब्दो में "महाभागवत की रचना के द्वारा महाकवि पोतन्ना ने तेलगू साहित्य मे अमृत की धारा बहाई है।" लगभग सोलहवी शताब्दी के आरम्भ मे ही विजयनगर सम्राट कृष्णराय के समय मे धारवाड़ जिले के कुमार व्यास कवि ने कन्नड़ महाभारत की रचना की थी और उसी शताब्दी मे श्रीमद्भागवत का काव्यानुवाद भी चीटु विट्ठलनाथ ने कन्नड़ भाषा मे किया। साथही कन्नड़ साहित्य की अक्षय निधि वैष्णव भक्तों के वे पद हैं जिनका कि प्रचार उन्होने गाँव-गाँव घूमकर किया। इन वैष्णव भक्तो मे पढरपुर निवासी पुरन्दरदास का विशेष उल्लेखनीय स्थान है और उनके सम-कालीन कवि कनकदास की मोहन तरंगिणी नामक कृति भी कन्नड़ साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है। वस्तुतः पुरन्दरदास और कनकदास कन्नड़ साहित्य के सूर और तुलसी हैं।

लगभग इसी शताब्दी मे पाटण (गुजरात) के महाकवि भालण ने श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध का सुललित और सुमधुर काव्यानुवाद किया तथा उनका यह अनूदित ग्रंथ बहुत अधिक प्रसिद्ध भी है पर भालण के पूर्व ही संवत १५२८ मे केशव हृदय ने गुजराती मे श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का पद्यानुवाद किया था। इसी प्रकार संवत् १५४१ में सिद्धपुर पाटण के भीम नामक कवि ने हरि लीला षोडश कला नामक कृति का प्रणयन किया था और सत्रहवी-अठारहवी शताब्दी में परमानन्द ने गुजराती साहित्य को कृष्ण-विषयक बहुत से सुमधुर सरस पद प्रदान किए। यहाँ यह स्मरणीय है कि तमिल साहित्य के प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रबन्धम्' मे भी कृष्णावतार की विविध लीलाओं का वर्णन किया गया है और मराठी साहित्य में महानुभाव पंथ के कवीश्वर भास्कर की शिशुपाल वध, एकादश स्कंध या उत्तर गीता और श्रीकृष्ण चरित्र, दामोदर पंडित का वत्स हरण तथा नरेन्द्र कवि का रुक्मिणी स्वयंवर आदि कृतियाँ भी कृष्ण भक्ति का ही प्रचार करती हैं।

इस प्रकार जहाँ कि प्रत्येक प्रांतीय भाषा में कृष्ण काव्य की धारा प्रवाहित हो रही थी वहाँ हिन्दी साहित्य में वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कुंभनदास सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास एवम् नंददास को लेकर अष्टछाप की स्थापना की और जैसा कि डॉ. अमरनाथ झा का मत है ' उन कवियों के ग्रथो में केवल काव्य सौन्दर्य ही नही है, सगीत का ज्ञान ही नही है; कृष्ण पेय का विविध रूप भी इनमें मिलता है । साहित्य-प्रेमी इनके काव्य का रसास्वादन करते हैं, संगीत मर्मज्ञ इनको सुनकर प्रफुल्लित होते हैं और भक्त इनको सुनकर और पढकर परम आनन्द प्राप्त करते हैं।" इसी प्रकार डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लिखा है "उत्तर भारत के लोकमानस से निर्गुण की परम्परा हटाकर उसमें सगुण भावों के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महामान्य कवियों को है।"

अष्टछाप के उक्त आठ कवियों मे सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास को ही सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है तथा उनमें भी यदि सूरदास को सूर्य कहा जाय तो नन्ददास निश्चय ही सुधाकर है और अपनी सुघर काव्य-प्रतिभा, कोमलकान्त कमनीय शब्दयोजना तथा सुन्दर सरस भावनाओं द्वारा निश्चय ही उन्होंने व्रजभाषा में अपना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि विट्ठलनाथ ने जब संवत् १६०२ मे अष्टछाप की स्थापना की थी तो उसमें नन्ददास के स्थान पर वल्लभाचार्य के अनन्य सेवक विष्णुदास छीपा को स्थान दिया था और कदाचित इसीलिए 'श्री० गोवरधनदास के प्राकट्य की वार्ता' में नन्ददास का उल्लेख अष्टसखाओं में नहीं किया गया। वस्तुतः सं. १६०७ में जब नन्ददास पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए तभी उन्हें काव्य संगीत विषयक विशिष्ट योग्यता के कारण ही अष्टछाप में स्थान दिया गया तथा विष्णुदास छीपा को गोसाईं जी का द्वार-रक्षक नियत कर दिया गया।

अष्टछाप के अन्य अधिकांश कवियो की भाँति नंददास ने भी अत्यधिक संख्या में स्फुट पदों की रचना की है पर साथ ही उन्होंने कई ग्रंथों का निर्माण भी किया है। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में नंददास के २८ ग्रंथों की एक तालिका प्रस्तुत की है पर जैसा कि डॉ. गुप्त ने स्वयं स्वीकार किया है उस तालिका मे कई ऐसे ग्रथों के नाम हैं जो कि केवल दूसरे ग्रंथों के परिवर्तित नाम हैं और पृथक् ग्रंथ नही है । इसी प्रकार श्री. प्रभुदयाल मीतल ने अपनी कृति 'अष्टछाप परिचय' मे नंददास के निम्नलिखित पंद्रह ग्रथ माने हैं--अनेकार्थ मंजरी (अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थ भाषा, मान मंजरी (नाममंजरी, नाममाला, नाम चिंतामणि माला,) रसमंजरी, रूप मंजरी, प्रेम बारहखड़ी, स्याम सगाई, सुदामा चरित्र, रुक्मिणी मंगल, भँवर गीत,

रास पंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, गोवर्धन लीला और पद्यावली नामक पन्द्रह ग्रंथ नंददास के माने है। डॉ. दीनदयालु गुप्त रसमंजरी को नंददास की सर्व-प्रथम कृति मानते हैं और रास पंचाध्यायी, भँवर गीत एवम् सिद्धान्त पंचाध्यायी को अंतिम रचनाएँ मानते हैं परन्तु श्री. प्रभुदयाल मीतल उनके मत से असहमत है ।

वस्तुतः नंददास की कृतियों में रचनाकाल का उल्लेख ही नही हुआ है अतः उनका कालक्रम के अनुसार वर्गीकरण करना सहज नही है। साथही नंददास को अपने ग्रंथों के नाम के साथ मंजरी शब्द लगाना अधिक प्रिय था अतएव उन्होंने अपने पूर्वरचित ग्रंथ 'अनेकार्थ भाषा' और 'नाम माला' के नाम अनेकार्थ मंजरी तथा मान मंजरी रख दिए। इस प्रकार नंददास की कृतियों की प्रतिलिपियाँ भिन्न-भिन्न नामो से उपलब्ध होती है और समीक्षकों के लिए यह निश्चित करना सहज नही है कि वास्तव मे किसे हम कवि का पहला ग्रंथ मानें। चूँकि कवि ने अपने अधिकांश ग्रंथों मे रचना काल नही दिया है अतः कालनिर्णय, वर्गीकरण और क्रम आदि प्रश्नों को सुलझाना दुस्तर हो जाता है।

जब हम नंददास की कृतियों पर विहंगम दृष्टि डालते हैं तो हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि 'अनेकार्थ मंजरी' मे कवि ने वल्लभ सम्प्रदायी शुद्धाद्वैत विचारों को व्यक्त किया है तथा कृष्ण भक्ति का उपदेश, कृष्ण नाम की महिमा' भगवत् भजन आदि के विषय मे विचार अंकित किए है। 'अनेकार्थ मंजरी' मे एक एक शब्द के अनेक अर्थ दोहाबद्ध रूप में रखे गए है पर वह एक कोष ग्रंथ न होकर भक्ति ग्रंथ ही है। इसी प्रकार 'मान मंजरी' मे अमर कोश के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिए गए है पर उसमे राधा का मान वर्णन भी है और प्रत्येक छन्द की प्रथम पक्ति मे कवि ने प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची शब्द दिए है तथा द्वितीय पंक्ति मे इस शब्द का पुनः प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के मान मनावन और श्रृंगार का चित्रण किया है। कदाचित इसीलिए इस ग्रंथ को 'मान मंजरी नाममाला' भी कहा जाता है और स्वयं कवि के शब्दो मे--

> गूँथनि नाना नाम की अमर कोश के भाय,
> मानावती के मान पर मिले अर्थ सब आय।

रसमंजरी, रूपमंजरी और विरह मंजरी मे नंददास ने मलिक मुहम्मद जायसी तथा गोस्वामी तुलसीदास की सी दोहा-चौपाई वाली पद्धति का अनुसरण किया है और इसमें कोई संदेह नही कि जायसी और तुलसी के पश्चात नंददास को ही चौपाई छन्द में सरस काव्य-सृजन की सफलता प्राप्त हुई है। 'रसमंजरी'

की रचना का आधार संस्कृत के कवि भानु का संस्कृत ग्रंथ 'रसमंजरी' है और नंददास ने अपनी इस कृति में नायक-नायिका-भेद का संगोपांग वर्णन किया है। वह कहते भी हैं--

> रसमंजरी अनुसार कै नन्द सुमित अनुसार ।
> बरनत बनिता भेद जहँ प्रेम सार विस्तार ।।

'रसमंजरी' नायिका भेद की प्रारंभिक कृति होने के कारण रीति साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है और कुछ विद्वान तो रीति काव्य की परम्परा पर प्रकाश डालते समय 'रसमंजरी' की देन को महत्वपूर्ण मानते हैं। नंददास की कृति 'रूपमंजरी' एक छोटा-सा आख्यानक काव्य है और उसमें पुष्टि सम्प्रदाय की शृंगारपूर्ण धार्मिक भावनाओं के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है लेकिन उसमें लौकिक शृंगार ही विशेषरूप से अभिसिंचित हुआ है तथा उप पति रस की योजना भी हुई है। ग्रंथानुशीलन से यह भी विदित होता है कि 'रूप मंजरी' नंददास की मित्र रूपमंजरी ही है और कवि ने स्वयं को उसकी सहचरी इन्दुमती के रूप में प्रस्तुत कर यह ग्रंथ प्रस्तुत किया है। साथ ही वह प्रभु के चरण कमलों तक पहुँचने के लिए रूप-सौन्दर्योपासना के पथ का अनुसरण करने पर ही जोर देता है और लौकिक प्रेम का त्याग कर अलौकिक नायक कृष्ण के साथ 'जार भाव' से अनुराग करने की कथा ही अंकित करता है।

'विरह मंजरी' एक भावात्मक काव्य है और उसमें किसी एक व्रजबाला की वियोग दशा का मार्मिक चित्रण किया गया है पर कथावस्तु का अभाव-सा है तथा विप्रलम्भ की परिस्थितियों में अस्वाभाविकता भी है। विचारपूर्वक देखा जाय तो कवि जायसी के 'पद्मावत' नामक काव्य ग्रंथ की नागमती की विरह दशा का अनुसरण कर बारहमासा की परिपाटी अपनाता-सा जान पड़ता है। इसी प्रकार 'प्रेम बारहखड़ी' में २७ दोहों के अंतर्गत श्रीकृष्ण के मथुरागमन के अनन्तर गोपियों की विरह दशा का अंकन किया गया है और 'स्याम सगाई' में पुष्टि सम्प्रदाय की भावना के अनुकूल राधा को स्वीकाया मानकर श्रीकृष्ण के साथ राधा की सगाई का वर्णन किया गया है। लेकिन श्रीमद्भागवत में यह कथा कहीं भी नहीं दी गई है।

नंददास की सुदामा चरित और रुक्मिणी मंगल नामक कृतियाँ श्रीमद्भागवत की दशम स्कंध की विविध कथाओं पर ही आधारित हैं। यद्यपि कुछ विद्वान सुदामा चरित को नंददास की कृति नहीं मानते पर डॉ. दीनदयालु गुप्त ने अपने शोध-प्रबंध 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' में उसे नंददास की ही कृति स्वीकार किया है। संभवतः गोस्वामी तुलसीदास के 'जानकी मंगल' और

'पार्वती मंगल' से प्रभावित होकर ही नंददास ने 'रुक्मिणी मंगल' की रचना की है पर तुलसी की उक्त कृतियों की अपेक्षा नंददास के 'रुक्मिणी मंगल' मे भावपूर्ण स्थलों एवम् दृश्यो के चित्रण की अधिकता सी है ।

इसमे कोई संदेह नही कि नन्ददास की समस्त कृतियों में 'भँवरगीत' और 'रास पंचाध्यायी' ही प्रसिद्ध है तथा श्री. प्रभुदयाल मीतल के शब्दों मे 'भाषा की कोमलता, शब्दो की सजावट और भावो की सरसता के साथ साम्प्रदायिक सिद्धान्तो की पुष्टि इन रचनाओं में ऐसी सफलता के साथ हुई है कि वे ब्रजभाषा साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है । इनमें धार्मिकता और साहित्यिकता का सम्मिश्रण गंगा यमुना के मिश्रित प्रवाह की तरह दृष्टिगोचर होता है ।"

'भँवरगीत' द्वारा कवि ने न केवल गोपी-विरह-लीला का चित्रण किया है अपितु गोपी-उद्धव-संवाद रूप में निराकारोपासना पर साकारोपासना की विजय तथा गोरखनाथ आदि हठयोगी संतो के योग पंथ तथा कबीर आदि ज्ञानमार्गी संत कवियो के ज्ञान मार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । भँवरगीत के आरंभिक अर्द्ध भाग मे गोपी उद्धव संवाद है तथा अवशिष्ट भाग मे कृष्णानुरागिनी गोपियों की विरह दशा का चित्रण है और जहाँ कि प्रथम भाग विचार प्रधान है वहाँ दूसरे भाग मे हृदय पक्ष की प्रबलता है । प्रसन्नता की बात है कि कवि ने गोपियो द्वारा साधारण और स्वाभाविक तर्क ही प्रस्तुत कराए है तथा सुमधुर, रसमयी भाषा द्वारा दार्शनिक सिद्धांतों का खंडन और मंडन किया है ।

चूँकि गोपी-उद्धव-संवाद के मध्य अचानक ही एक भ्रमर उड़ता हुआ चला आता है और गोपियाँ उसे भी उद्धव की तरह कृष्ण द्वारा भेजा हुआ दूत समझ लेती है अतएव उसे सम्बोधित कर उपालम्भों द्वारा अपने व्यथित मानस की भावना को अभिव्यक्त करने के फलस्वरूप प्रस्तुत प्रसंग की 'भँवरगीत' अथवा 'भ्रमरगीत' की संज्ञा दी गयी । श्रीमद्भागवत में, जिसका कि प्रभाव प्रायः समस्त कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियो पर पड़ा है, प्रस्तुत कथानक 'अध्याय द्वै' के नाम से प्रसिद्ध है लेकिन उसमें उद्धव के ज्ञानयोग सिद्धान्त का वर्णन नही है और जहाँ कि उसमें गोपी-उद्धव के कुशल क्षेम के पश्चात ही भ्रमर का आगमन हो जाता है तथा वे उपालम्भ प्रकट करने लगती हैं वहाँ नंददास के भँवरगीत मे भ्रमर का आगमन गोपी-उद्धव-सवाद मे गोपियो की विजय के पश्चात होता है तथा वे भ्रमर को लक्षकर अपनी विरह दशा का चित्रण करती है ।

श्रीमद्भागवत और सूरसागर की अपेक्षा 'भँवरगीत' में कई नवीन मौलिक प्रसंगों की उद्भावना है तथा अन्य कृतियों से भावग्रहण करने पर भी कवि की अभिव्यंजना शैली मे मौलिकता दृष्टिगोचर होती है । सूर ने पदो के अतिरिक्त नन्ददास की सी रोला-दोहा की सम्मिश्रणवाली छन्द पद्धति मे 'भँवरगीत' की रचना की है पर पदों की भाँति सूर उसमें उतना अधिक विस्तार और माधुर्य न ला सके । इसीलिए संक्षिप्तता के साथ-साथ उसमे भावाभिव्यंजन की न्यूनता भी है और इस दृष्टि से नन्ददास का 'भँवरगीत' सूर की अपेक्षा विशेष प्रभावोत्पादक है । डॉ. दीनदयालु गुप्त का विचार है कि "सूरदास के पदवाले 'भँवरगीत' में हृदय पक्ष प्रधान है और नन्ददास के 'भँवरगीत' में बुद्धि पक्ष" परन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मुक्तक शैली मे लिखे जाने के कारण सूर के भ्रमरगीत में कथा-प्रसंगो की अत्यधिक पुनरुक्ति है जब कि प्रबंध के रूप में सृजित होने के फलस्वरूप नन्ददास के 'भँवरगीत' में पुनरुक्तियों का अभाव है अतः संगीतात्मकता, प्रवाह और चित्ताकर्षण की दृष्टि से नंददास का भँवरगीत विशेष महत्वपूर्ण है ।

'रास पंचाध्यायी' में तो नन्ददास की कला का चरमोत्कर्ष रूप दृष्टिगोचर होता है और सुललित, सुमधुर, प्रवाहपूर्ण भाषा-शैली के फलस्वरूप उसे हिन्दी का 'गीत गोविन्द' माना जा सकता है । 'रास पंचाध्यायी' स्पष्टतः एक शृंगारिक काव्य ही प्रतीत होता है जिसमें कि लौकिक संयोग-प्रेम का ही चित्रण है लेकिन वल्लभाचार्य के धार्मिक भावों तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति भी उसमें है और यही कारण है कि उसमें आध्यात्मिकता भी विद्यमान है । पाँच अध्यायों की इस कृति में गोपीकृष्ण की रासलीला का चित्रण है और रसरूप परमात्मा अर्थात् परब्रह्म के साथ बिछुड़ी हुई आत्मा अर्थात् गोपियों के पुनर्मिलन की आनन्दावस्था का चित्रण कर यह सिद्ध किया गया है कि परमात्मा के आनन्दांश से विलग होकर आत्माएँ विश्वचक्र के मध्य पुनः उसी आनन्दस्वरूप भगवान से सम्मिलन को उत्सुक रहती है ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो नन्ददास की रास पंचाध्यायी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में २६ वे अध्याय से ३३ वे अध्याय तक वर्णित रासलीला की कथावस्तु से स्पष्टतया प्रभावित जान पड़ती है और स्वयं कवि ने भी इस बात को स्वीकार किया है परन्तु शुकदेव मुनि की वन्दना, वृन्दावन का शोभावर्णन, शारदीय सुषमा का अलंकृत चित्रण, अनंग के आगमन और उस पर गोपीकृष्ण द्वारा विजय प्राप्ति आदि कई नवीन प्रसंग भी है जिनका कि श्रीमद्भागवत में संकेत भी नहीं है । इस प्रकार नन्ददास की रासपंचाध्यायी की मौलिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है ।

वस्तुतः रासपचाध्यायी एक भावात्मक प्रबन्धकाव्य है जिसमे कि वस्तु-कथन की अपेक्षा मनोहारी दृश्य चित्रो और भावाभिव्यक्ति की ही बहुलता है तथा जैसाकि स्वयं कवि का मत है, उसकी कृति काव्य रस की दृष्टि से 'मनहरनी' है और आध्यात्मिक सुख प्रदान करने के फलस्वरूप अघहरनी भी है—

अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम वितरनी
नन्ददास के कठ बसो नित मंगल करनी ॥

'रासपचाध्यायी' की सैद्धातिक व्याख्या अर्थात् रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन ही 'सिद्धान्त पचाध्यायी' मे किया गया है अतः हो सकता है कि उसकी मूल सामग्री किसी समय 'रासपचाध्यायी' मे ही समाविष्ट रही हो तथा कुछ समय पश्चात स्वय कवि ने या किसी अन्य व्यक्ति ने उसे स्वतत्र कृति का रूप प्रदान कर दिया हो। इसी प्रकार 'दशम स्कन्ध भाषा' मे श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रारभिक उन्तीस अध्यायो का भावानुवाद प्रस्तुत किया गया है और इस ग्रथ के प्रणयन मे श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थदीपिका' तथा वल्लभाचार्य कृत 'सुबोधिनी' की विशेष सहायता ली गयी है परन्तु जहाँ कि श्रीधर स्वामी और वल्लभाचार्य के विचारो मे मतभेद जान पड़ता है वहाँ कवि ने दोनो के मतो को अंकित किया है। कहा तो यह भी जाता है कि नन्ददास ने समस्त 'श्रीमद्भागवत' का व्रजभाषा पद्य मे अनुवाद किया था परन्तु कथा वाचक ब्राह्मणो द्वारा गोस्वामी विट्ठलनाथजी से शिकायत की जाने पर गोसाईंजी के आदेशानुसार नन्ददास ने दशमस्कन्ध की रासपचाध्यायी के अंश को छोड़कर शेष पुस्तक यमुना नदी मे प्रवाहित कर दी।

नन्ददास की 'गोवर्धन लीला' मे कृष्ण-चरित्र की लीलाओ का वर्णन और गुणगान किया गया है तथा इस कृति का सृजन भी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर किया गया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नन्ददास की उल्लिखित कृतियो के अतिरिक्त अनेक पद भी नन्ददास के उपलब्ध होते है और नन्ददास के इन पदो मे भक्तिभावना, राधाकृष्ण का सौन्दर्य तथा प्रेमवर्णन आदि प्रसंगो का चित्रण किया गया है। निष्कर्ष रूप मे हम यहाँ यह तो कह ही सकते है कि नन्ददास की कृतियो से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने श्रीमद्भागवत से बहुत सी सामग्री ग्रहण कर उसे कलात्मक ढग से सजाकर प्रस्तुत करने में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है।

अष्टछाप के अन्य कवियो की भाँति नन्ददास की भाषा व्रजभाषा ही है और भाषा के तीनों प्रधान गुणो— ओज, प्रसाद व माधुर्य—मे से माधुर्य और प्रसाद गुणो की ही उनकी कृतियो मे अधिकता है। वस्तुतः कवि ने ऐसे प्रसगो

का ही चयन किया है जिनमें कि ओज गुण की आवश्यकता ही न थी और आश्चर्य तो इस बात में है कि वे 'ट' वर्ण प्रधान ओज गुण को भी शृंगार का सहायक बनाने में सफल रहे हैं—

छबि सों निर्त्तनि पटकनि लटकनि मंडल डोलनि ।
कोटि अमृत सम मुसकानि मंजुलता थेई-थेई बोलनि ॥

भाषा की मधुरता और शब्दों की सुकर सजावट ही नंददास की काव्यकला की प्रमुख विशेषताएँ हैं तथा डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में "(नंददास में) दो गुणों की प्रधानता है। ये दोनों गुण हैं माधुर्य और प्रसाद । माधुर्य तो उच्च श्रेणी का है। प्रत्येक पद मानों अंगूर का एक गुच्छा है जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों में कोमलता भी बहुत है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है, वह बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ ।" अलंकारों की अभिव्यंजना में भी नन्ददास को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है तथा भाषा पर उनका इतना अधिक आधिपत्य था कि बस 'वाग् वश्यैवानु वर्तते'— वाणी तक उनके आधीन-सी हो गई थी। इस प्रकार 'जब मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण व्रजबाला,' 'प्रेम बेली द्रुम फूली,' 'कर्म के कूप' जैसे रूपकों; 'वृन्दावन को रीझि मनो पहनाई माला' जैसी उत्प्रेक्षाओं और 'तरंगति बारि ज्यों' के समान उपमाओं की उनकी कृतियों में अधिकता सी है। साथही अनुप्रास, संदेह, वक्रोक्ति, स्तुति, निदर्शना, दृष्टान्त और अतिशयोक्ति नामक अलंकारों तथा भाषा की तीनों प्रधान शक्तियों--अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—की अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में सफलता के साथ हुई है। सरस, स्पष्ट और हृदयग्राही व्यंजना का एक उदाहरण दर्शनीय है--

गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि ।
मदन त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि ॥
रूप गुन सील की ॥

कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कर कवि ने भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति में भी वृद्धि की है तथा 'जबही लौं नहिं लखौ तबहिं लौं बाँधी मूठी', 'घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं,' 'कहा तिय लोन लगावौं' और 'छुदित प्रान मुख काढ़ि' आदि मुहावरों की अधिकता-सी है। इसी प्रकार संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा उन्हें व्रजभाषा के साँचे में ढालकर प्रयुक्त किया गया है; उदाहरणार्थ--योग के लिए 'जोग', सूक्ष्म के लिए 'सुच्छम,' परिक्रिया के लिए 'परिकला', क्षुधित के लिए' छुदित' आदि। साथही

गरज, लायक, अरदास जैसे अरबी, फारसी के शब्द और कुछ पूर्वी हिन्दी के 'आहे' जैसे रूप भी दृष्टिगोचर होते है परन्तु इन सबके फलस्वरूप कवि के भाषासौन्दर्य के निखार में कुछ कमी न आ सकी तथा जैसाकि नन्ददास के विषय में प्रसिद्ध है 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' वह पूर्णतः उचित ही है। नन्ददास की कविता के कला पक्ष की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होने पद-रचना के अतिरिक्त रोला और चौपाई जैसे छन्दो का भी पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग किया है।

नन्ददास की रसव्यंजना भी अनुपम थी पर उन्होने शृगार रस के चित्रण की ओर ही विशेष ध्यान दिया है और शृंगार की अपेक्षा शान्त, करुण व हास्य के प्रसगो की गौणता ही देख पड़ती है। इसमे कोई सदेह नही कि सयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का वर्णन नन्ददास ने अत्यंत सफलता के साथ किया है पर वियोग दशा के चित्रण मे उन्हे अधिकाधिक सफलता प्राप्त हुई है और मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने मे तथा अन्तर्जगत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्तवृत्तियो के निरूपण मे कवि की काव्य-कला-कुशलता का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार आशा और निराशा के हिंडोले में विहार करती हुई गोपियो का चित्र कवि ने अत्यंत तन्मयता के साथ -प्रस्तुत किया है—

विरहाकुल है गई सबै पूँछत बेली बन।
को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरहीजन॥
हे मालति हे जाति जूथिके सुनि हित दै चित।
मानहरन मनहरन लाल गिरिधरन लखै इत॥

'भँवरगीत' मे ब्रह्म, माया और जीव की विवेचना में तथा 'रासपंचाध्यायी' में भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते समय हमे कवि के पांडित्य की झलक भी दृग्गिोचर होती है परन्तु केशव की भाँति उन्होने कही भी अपनी प्रतिभा को पांडित्य के पाश मे जकड़ नही दिया। साथ ही कवि नें प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण मे भी पूर्ण रुचि दिखाई है और सामान्यतः प्रकृति को तीन रूपों में चित्रित किया है। इस प्रकार उन्होने आलम्बन रूप मे कही भी प्रकृति-चित्रण नही किया पर आगामी घटना की पृष्ठभूमि के रूप मे अवश्य प्रकृति का यथातथ्य चित्रण किया है। इसी प्रकार कही कही प्रकृति चित्रण अलंकारिक भी हो गया है और ऐसे स्थलों में चमत्कार-प्रदर्शन तथा अलंकारप्रियता ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि डॉ. किरणकुमारी गुप्ता का मत है "नन्ददास ने प्रकृति का सबसे अधिक प्रयोग शृंगार वर्णन मे मानव भावनाओं की पूर्व पीठिका अर्थात् मानव अन्तवृत्तियों को उद्दीप्त करनें के रूप मे किया है" वह पूर्णतः

उचित है। साथही कवि ने मानवीकरण की भावना भी प्रदर्शित की है और प्रकृति से तादात्म्यता स्थापित कर प्रकृति में संवेदना की भी अनुभूति की है। नन्ददास ने केवल वियोगावस्था में ही प्रकृति में मानवीकरण का आरोप नहीं किया बल्कि मानव के आनन्द में भी उसे पूर्ण सामंजस्य रखती हुई व्यक्त किया है।

प्रकृति वर्णन के साथ-साथ कवि को सौन्दर्य वर्णन में भी अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और रूप-चित्रण के कई मनोहारी चित्र भी प्रस्तुत किए है। यह अवश्य है कि रूप और यौवन के कवि नन्ददास की कृतियों में कई ऐसे स्थल भी हैं जिन्हे कि निरा वासनामूलक ही माना जाएगा और अष्टछाप के कवियों में निस्संदेह नन्ददास ने ही प्रेम के विभिन्न स्वरूपों में स्त्री-पुरुष की कामवासनामयी रति का ही विशेप चित्रण किया है जो कि उचित नही माना जा सकता लेकिन इससे उनकी विद्वत्ता, बहुज्ञता और पांडित्य में कोई कमी नहीं आ सकी। पद-लालित्य और भापा-माधुर्य की दृष्टि से तो वे सूर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ कहे जाते हैं और जैसा कि डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है "उनकी भाषा साफ और मार्जित, विचार पद्धति शास्त्रीय और वल्लभाचार्य के अनुकूल तथा भाव असाधारण थे।" इस प्रकार नन्ददास का हिन्दी-काव्य-साहित्य में अपना विशेप स्थान है और डॉ. रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "यदि तुलसी की कविता भागीरथी-सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश्य है तो नंददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता त्रिवेणी की पूर्ति करती है।"

सतसई परम्परा और बिहारी सतसई

रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ[1] एवम् लोकप्रिय कवि[2] और सहज रसीली ब्रजभाषा के पियूषवर्षी मेघ[3] बिहारी की एकमात्र रचना उनकी सतसई है तथा उनकी समस्त ख्याति का मूलाधार यही ग्रंथ है। सात सौ उन्नीस दोहों की यह कृति सतसई काव्य-परम्परा को चरमोत्कर्ष में पहुँचाने में अत्यंत सफल रही है[4]

---

१. "बिहारी रीतिकाल के कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य को जितनी चर्चा विगत २५० वर्ष में हुई है उतनी तुलसीदास के रामचरितमानस को छोड़ अन्य किसी भी रचना की नहीं हो पायी। बिहारी अपनी वाग्विभूति के कारण हिन्दी संसार में प्रसिद्ध हैं। छोटे छोटे दोहो में अधिक से अधिक मार्मिक भावों को भर देने की जितनी क्षमता बिहारी में है इतनी अन्य किसी कवि में नही।"

—हिन्दी साहित्य की परम्परा : प्रो. हंसराज अग्रवाल; पृष्ठ २०४

२. "रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि बिहारीलाल थे।"

—हिन्दी साहित्य : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ ३१४

३. "यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

—श्री. राधाचरण गोस्वामी

४. "सतसई साहित्य में बिहारी सतसई सर्वश्रेष्ठ है।"

—हिन्दी रीतिसाहित्य : डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ११२

और भी—

और जैसा कि श्री. लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी' ने लिखा है "इस अनूठी, अप्रतिम काव्य-मंजूषा सतसई में महाकवि बिहारीलालजी ने जिन दोहा रत्नों को यत्रतत्र बिखेर कर रक्खा है, उनकी चमक दमक पर काव्य रसिक और साहित्य मर्मज्ञ सदियों से हृदय न्यौछावर करते आए हैं। उनकी सी लोकोत्तर आनंददायिनी कवि-कल्पना, उनकी सी दूरदर्शिता, उनकी सी बाह्य और अंतरंग प्रकृति पर्यवेक्षण-चातुरी, उनकी सी भाव-माधुरी, उनकी सी सजीव भाव-प्रतिमा उनकी सी व्यापक ज्ञान गरिमा, उनकी सी व्याकरण विशुद्ध परम परिमार्जित, अर्थ-गांभीर्य पूर्ण, प्रसाद गुणमयी, भाव-प्रवाहिका, सजीव अलंकृत, मधुर, प्रांजल भाषा, उनकी सी सजीव-शब्द-चित्र-निर्माणकारिणी कुशलता और उनकी सी भावपूर्ण पद-स्थान-प्रणाली काव्यजगत के विरले ही महाकवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं की इनी गिनी उक्तियों में कठिनता से प्राप्त हो सकती हैं।"[५]

सतसई से हमारा अभिप्राय-काव्य की मुक्तक विधा के अंतर्गत प्रणीत किये गये किसी संकलन ग्रंथ से है और प्रारंभ में तो स्तोत्र एवं भक्तिग्रंथों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते ही थे लेकिन जब लोग शृंगार की मुक्तक रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती आदि नाम ग्रहण किये गये। वस्तुतः 'सतसई' या 'सतसैया' शब्द संस्कृत भाषा के 'सप्तशती' या 'सप्तशतिका' शब्दों के, जिसका कि अर्थ सात सौ पद्यों का संग्रह होता है, रूपान्तर हैं। सतसई की रचना के पूर्व प्राकृत और संस्कृत में गाथा सप्तशती एवम् आर्या सप्तशती आदि का सृजन हो चुका था और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दी में सतसई-काव्य-परम्परा के उद्गम से पूर्व भारतीय साहित्य में अन्य भाषाओं की सतसई विषयक परम्परा भी विद्यमान थी। स्मरण रहे; प्राकृत में जब से हाल की गाथा सप्तशती का संकलन हुआ तब से वैसे ही शृंगार रस पूर्ण मुक्तकों की रचना करने का औरों को भी उत्साह होने लगा अतः परिणामस्वरूप आर्या सप्तशती एवम् अमरुक शतक आदि कृतियों का सृजन हुआ परन्तु मुक्तक रचना के लिए उस समय कोई निश्चित संख्या आवश्यक

"बिहारी की कृति सतसई परम्परा की एक उज्वल कड़ी है—गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती एवं अमरुक शतक आदि मुक्तक ग्रंथों से प्रेरणा लेकर बिहारीलाल ने यह विविध रत्नमणि माला तैयार की है जिसकी आभा के कारण आज भी मुक्तक साहित्य जगमगाने लगता है।"

—हिंदी रीति साहित्य : डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ११३

५. बिहारी दर्शन—श्री. लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी'; पृष्ठ ३१

नहीं प्रतीत हुई अतएव संस्कृत और प्राकृत में मुक्तकों की बहुत सी ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जो कि शतक या सप्तशती की कोटि में नहीं आतीं पर उनका ढाँचा उसी प्रकार का है। इसीलिए संस्कृत का अमरुकशतक नामक काव्य प्रकारान्तर से इसी परम्परा के अंतर्गत आता है और सात सौ छन्दों से युक्त न होने पर भी उसके प्रेरक तत्त्व वही हैं जो किसी भी सतसई के लिए प्रेरक हो सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी में दोहा छन्द इस परम्परा के लिए रूढ़ हो गया पर वास्तविकता तो यह है कि समस्त सतसई ग्रंथों का सृजन प्रायः दोहा छन्द में ही किया गया है। इस प्रकार संस्कृत एवम् अपभ्रंश साहित्य में मुक्तक दोहों की रचना का यथेष्ट प्रचलन रहा और इन तीनों ही भाषाओं में सतसई, शतक एवम् मुक्तक दोहों की रचनाओं का यथार्थ प्रचार भी हुआ जिसके फलस्वरूप कालान्तर में हिंदी साहित्य में भी सतसई-काव्य-परम्परा अंकुरित, विकसित और पल्लवित हो सकी।

वस्तुतः हिन्दी मे सतसई-रचना का प्रारम्भ मुख्यतः भक्तिकाल में ही हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कबीर के भक्ति एवम् नीतिविषयक दोहे सतसई के रूप में आबद्ध न होने पर भी दोहा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और हिन्दी की सतसई परम्परा का मूलस्रोत उन्हीं से निःसृत हुआ है। यद्यपि 'शतक' नामधारी कतिपय संकलन सूरदास के नाम पर भी प्रचलित हैं लेकिन सतसई परम्परा में उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता और इस प्रकार तुलसी तथा रहीम को ही भक्तिकाल में सतसई परम्परा को विकसित करने का श्रेय प्रदान किया जाता है। यद्यपि तुलसी के नाम से जो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें सतसई के दर्शन नहीं होते पर इस विषय में विचारकों में साम्यता सी है कि तुलसी ने सतसई अवश्य लिखी होगी। शिवसिंह सरोज पृष्ठ ४२९, इंडियन एंटिक्वेरी भाग बाईस में प्रकाशित डॉक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन के लेख 'नोट्स आन तुलसीदास,' मिश्रबन्धुओं के हिन्दी नवरत्न और डॉ. रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास आदि ग्रंथों में तुलसी की राम सतसई या तुलसी सतसई का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे निष्णात समीक्षक ने भी तुलसी के सतसई सृजन नामक प्रवाद का खंडन नहीं किया है[६] अतः तुलसी को निश्चित रूप से सतसई काव्य-परम्परा का प्रथम

६. "राम सतसई मे सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमें से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमें कुतूहल-वर्द्धक, चातुर्य लिए हुए और क्लिष्ट हैं। यद्यपि दोहावली मे भी कुछ दोहे इस ढंग के हैं– पर गोस्वामीजी ऐसे गंभीर, सहृदय और कला-मर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यों का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं

प्रणेता माना जा सकता है । तुलसी के पश्चात रहीम ने भी एक सतसई लिखी है और वह उपलब्ध नही है पर उसके जो दोहे प्राप्त होते है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से वह निस्संदेह महत्वपूर्ण कृति होगी । यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कबीर, तुलसी और रहीम के दोहे मुख्यतः भक्ति एवम् नीति विषयक ही है और उनमे श्रृंगार रस की वह निर्झरिणी प्रवाहित नही होती जिसे कि मूलतः सतसई साहित्य की आत्मा ही कहना चाहिए अतः सतसई साहित्य का आरभ बहुत से विचारक विहारी से ही मानतें हैं ।[७]

वास्तव मे विहारी सतसई के सृजन के पश्चात ही इस प्रकार के सतसई-ग्रंथ अधिक मात्रा मे रचे गये और मतिराम सतसई, श्रृंगार सतसई, वृन्द सतसई, विक्रम सतसई आदि कई कृतियाँ प्रकाश मे आयी तथा आधुनिक काल में भी वियोगी हरि की वीर सतसई मुख्यतः वीर रस की कृति होते हुए भी इसी परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है । इस प्रकार हिन्दी साहित्य मे सतसई परम्परा का प्रारंभ विहारी सतसई से ही माना जाता है और यह भी मत प्रचलित है कि उसके पश्चात जो सतसई ग्रंथ लिखे गए वे किसी भी प्रकार विहारी की समकक्षता नहीं कर सकते ।[८] 'सिलाकारीजी' के शब्दों मे "जिस प्रकार सस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का जैसा आदर हुआ वैसा फिर रामगीता, देवीगीता, अष्टावक्र गीता आदि को कभी न मिला । जिस प्रकार केवल गीता कहने से श्रीमद्भगवद्-गीता का बोध हो जाता है उसी प्रकार हिन्दी साहित्य मे सतसई कहने से बिहारी

जाता । जो हो, बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रणीत चरित मे भी रामसतसई का उल्लेख हुआ है ।"

——हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृष्ठ १४४

७. "रहीम की सतसई मिलती नही, पर उनके जो दोहे प्राप्त हैं यदि वे ही उस सतसई मे हो तो कहना पडता है कि वह प्रमुखता के विचार से नीति सतसई ही कही जायगी और तुलसी सतसई चाहे तुलसीदास की रचना हो चाहे न हो वह प्रमुखतया भक्ति की ही सतसई है ।"

——विहारी : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र; पृष्ठ ७३

८. "इसके वाद भी सतसइयों की रचना होती अवश्य रही पर कीर्ति में कोई इसके निकट नही पहुँच सकी ।"

——हिन्दी साहित्य : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ३२६

41050

सतसई का हो जाता है। विश्वविख्यात महाकवि गोस्वामीजी का आसन उनके महाकाव्य रामायण के कारण कितना ही उच्च क्यों न हो? पर मुक्तक रचना की दृष्टि से वह भी महाकवि विहारीलालजी के सामने नही ठहरते।"[९]

वस्तुतः विहारी सतसई को सर्वदा ही एक सा परमोच्च सम्मान प्राप्त होता रहा है और मुक्तक काव्य परम्परा में उसका श्रेष्ठतम स्थान माना जाता है[१०] तथा केवल इस एक कृति के बल पर ही विहारी को महाकवि कहा जाता है। न केवल हिन्दी साहित्य[११] अपितु सर्वसाधारण मे भी न जाने कब से विहारी सतसई की प्रशंसा होती रही है[१२] और पाश्चात्य समीक्षको ने भी उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा

---

९. विहारी दर्शन–श्री. लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी', पृष्ठ ३४–३५

१०. "यह सतसई परंपरा की एक उज्जवल दमकती हुई लड़ी है जिसकी आभा के सामने सारा मुक्तक-मणिमाल आभाहीन जान पड़ता है।"
– हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : डॉ. भगीरथ मिश्र; खंड २; पृष्ठ १०६

११. "विहारी शृंगार के अद्वितीय कवि हैं। भाव-सौन्दर्य और भाषा सौन्दर्य दोनो मे उनकी समता मे रीतियुग का कोई कवि नहीं ठहरता।"

––प्राचीन कवि : डॉ सुधीन्द्र; पृष्ठ १४४

और भी––

"विहारी हिंदी जगत मे शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं-इस पर दो मत नही हो सकते। इन्हे हम हिन्दी का कालिदास कह सकते हैं।"

–साहित्य–अनुभूतिऔर विवेचन : डॉ. संसारचंद्र; पृष्ठ ७७

१२. यहाँ कुछ उदाहरण दर्शनीय है –

सतसैया के दोहरे ज्यो नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥
व्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विसाल।
सबकी भूषण सतसई रची विहारीलाल॥
जो कोऊ रस रीति को समुझे चाहे सारु।
पढै विहारी सतसई कविता को सिंगारु॥
उदै अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह।
सुनत विहारी सतसई सबहि सराह-सराह॥

की है[13] तथा डॉ. सुधीन्द्र का तो स्पष्टतया यही कहना है "बिहारीलाल हिन्दी के श्रृंगार-उपवन के बिहारी है। भक्ति की पावन भूमि को छोड़कर कवि कल्पना केवल सामन्त वर्ग के बुद्धि विनोद और वाग्विलास का साधन बनकर

भाँति भाँति के वहु अरथ यामें गूढ़ अगूढ ।
जाहि सुनै रस रीति को मग समुझत अति गूढ़ ॥
विविध नायिका भेद अरु अलंकार नृप नीति ।
पढ़ै बिहारी सतसई जानै कबि रस-रीति ॥
करै सात सौ दोहरा सुकवि बिहारीदास ।
सब कोऊ तिनको पढै सुनै गुनै सविलास ॥

१३. उदाहरणार्थ –

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharılal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix Syllables and generally contained less. Neverthless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or aphase of nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous."

—Imperial Gazetter of India: Vol. II; p. 423

और भी—

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry in Biharilal Choube·· ···Biharilal's fame as a poet rests upon his Satsai, which is a collection of approximately seven hundred 'Dohas' and 'Sorthas'. The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself. They are intended to illustrate figures of rhetoric and other constituents of a poem····Tulsidas had written a Satsai before the time of Biharilal as well as other Hindi poets. But Biharilal has undoubtedly achieved very great excellence in the particular line and his work had a large number of commentators and many imitators."

— A History of Hindi Literature : F. E. Keay

किस प्रकार 'कला' से 'शिल्प' की कोटि में उतर आई—बिहारी की कविता इसका प्रमाण है। हृदय की उदात्त भावना और अनुभूति को छोड़कर यदि शब्द शिल्प और भाव-शिल्प का समन्वय देखना हो तो बिहारी की कविता का आस्वादन और अनुशीलन करना चाहिए।"[१४]

सामान्यतया बिहारी ने अपनी सतसई का आधार संस्कृत, प्राकृत एवम् अपभ्रंश साहित्य को ही रखा है और चाहे उन्होंने हिन्दी के प्राचीन कवियों के भी दोहे वाले ग्रंथ उलट पुलटकर देखे हों पर उनके आधार ग्रंथ गाथा सप्तसती, आर्या सप्तसती और अमरुक शतक ही हैं। साथही हेमचन्द्र के व्याकरण में भी अपभ्रंश के बहुत से दोहे हैं जो शृंगारी ही हैं और यदि बिहारी के दोहों के साथ उनकी तुलना की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी सतसई पर भी उनका व्यापक प्रभाव पड़ा है। यों तो बिहारी के दोहों के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत एवम् अपभ्रंश के छंदों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने अंधानुसरण कहीं नहीं किया है पर इन तीनों से वह निश्चित रूप से प्रभावित अवश्य हुए हैं। अपने इस कथन की पुष्टि हेतु हम यहाँ भाव-साम्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं; देखिए—

> जावण कोस विकास पावइ ईसीस मालईकलिआ।
> मअरन्दपाण लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥
>
> — गाथा सप्तशती, ५–४४

अर्थात् अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंदपान के लोभी भ्रमर तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया। बिहारी के निम्नांकित दोहे में इसी की छाया विद्यमान है; देखिए—

> नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
> अली कली हीं सों बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

एक उदाहरण और लीजिए—

> वाआइ किं भणिज्जइ केत्ति अमेत्तं लिक्खए लेहे।
> तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो॥
>
> —गाथासप्तशती, ६–७१

अर्थात् वाणी से क्या कहा जाय, लेख में कितना लिखा जाय। आपके वियोग में जो दुःख हो रहा है, उसे आप स्वयं समझें। अब बिहारी का यह दोहा देखिए—

---

१४. प्राचीन कवि– डॉ. सुधीन्द्र ; पृष्ठ ११६

कागद पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात ।
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ।।

'गाथा सप्तसती' की भांति 'आर्या सप्तसती' का भी बिहारी के दोहों पर यथेष्ट प्रभाव विद्यमान है; उदाहरणार्थ--

चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकंठी विमुखवृत्तिरपि बाला ।
त्वामियमगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ।।

--आर्यासप्तशती; २-३२

अर्थात् केशो को सँवारने मे गर्दन तिरछी किए झुकी हुई पीठ फेरे बैठी हुई वह नायिका अँगुलियों से केशो के बीच स्थान बनाकर तुम्हे देख रही है। अब बिहारी का यह दोहा देखिए—

कंज नयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार ।
कच अंगुरिन बिच डीठि दै, चितवति नंदकुमार ।।

अपभ्रंश के जो स्फुट दूहा हेमचंद्रादि की कृतियों मे मिलते हैं उनकी प्रतिच्छाया बिहारी सतसई मे विद्यमान है; जैसे--

भमरा एत्थुवि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।
घण पत्तलु छाया बहुइ फुल्लइ जाम कयम्बु ।।

अर्थात्, हे भ्रमर तब तक यही नीबड़ी मे कुछ दिन विश्राम कर जब तक कि घने पत्तो और छायावाला कदम्ब फूल नही जाता । अब बिहारी का यह दोहा देखिए--

इहि आस अटक्यो रहै अलि गुलाब कै मूल ।
ह्वै है बहुरि बसंत रितु इन डारिन वै फूल ।।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रथ 'अमरुक शतक' का भी बिहारी सतसई पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है; उदाहरणार्थ यह छंद देखिए—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
निद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात पुलकामालोक्य गंडस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।

—अमरुकशतक, ८२

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ, खिस्यानी, गरे गह्यौ रही गरे लपटाय ।।

--बिहारी सतसई

हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि उक्त उदाहरणों को प्रस्तुत करने में हमारा अभिप्राय यह नही है कि बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियो से पूर्णतः प्रभावित थे या उनका लक्ष्य हमेशा भावापहरण मात्र ही रहा है बल्कि हम तो यह दिखाना चाहते हैं कि बिहारी सतसई का मूल स्रोत क्या है ? श्री. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "हिन्दी के रीतिकाल या श्रृंगारकाल में अधिकांश रचना ऐसी हुई है जिसमे केवल प्राचीन भावो का पिष्टपेषण है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि बिहारी मे अथवा हिन्दी के स्वच्छंद कवियो में भी वही प्रवृत्ति व्याप्त रही, उन लोगों ने मार्ग तो वही ग्रहण किया, भूमिका भी वैसी ही रखी, पर महल अपना खड़ा किया, मसाला अपना लगाया।"[१५] वस्तुतः बिहारी की यह विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से भाव ग्रहण-करते हुए भी उनमे व्यक्त भावनाओं को अपनी स्वतंत्र शैली से व्यक्त किया है और जैसा कि श्री. पद्मसिंह शर्मा का मत है "बिहारी के पूर्ववर्ती, समसामयिक और परवर्ती हिन्दी कवियो की कविता मे और बिहारी की कविता में ...... कहीं कही बहुत सादृश्य पाया जाता है। ऐसे स्थलों में बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों को पीछे छोड़ गए हैं, समसामयिकों से आगे रहे है और परवर्ती उन्हें नहीं पा सके हैं।"[१६]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सतसई-काव्य-परम्परा में बिहारी सतसई का श्रेष्ठतम स्थान है और सिलाकारीजी के शब्दो में "बिहारी सतसई में सागर लहराता है। मनुष्य के मन-सागर की भावना तरंगों के सहज सुकुमार सजीव चित्र खींचने मे बिहारीलालजी की प्रतिभा अप्रतिम है। मानव जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्राकृतिक तारतम्य का साम्य मिलाकर, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण भावानुगामिनी, सरस भाषा मे मंजुल भावों की सजीव कल्पना मूर्तियों को संगीत मधुर काव्यकला के क्षेत्र मे उपस्थित करने में बिहारीलालजी अद्वितीय ही हैं। इस सिद्ध सारस्वतीक महाकवि ने कुछ ७१९ दोहों में अपने प्रगाढ़ पांडित्य, व्यापक ज्ञान, सर्वतोन्मुखी प्रखर प्रतिभा और परमोत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता का परिचय पूर्णरूपेण दे दिया है। इसमें नव रस, तैंतीस संचारी भाव, नव स्थायी भाव, सम्पूर्ण कायिक, मानसिक और सात्विक अनुभाव, नायक भेद, नायिका भेद, हाव, सखी, दूती, सयोग, विरह निवेदन, मान, परिहास, हास, नखशिख, छहऋतु, भक्ति, धर्मनीति, सामान्य नीति, राजनीति, अन्योक्ति, सम्पूर्ण अर्थालंकार, संपूर्ण

---

१५. बिहारी की वाग्विभूति – श्री. विश्वनाथप्रसाद मिश्र;
पृष्ठ १५४ - १५५

१६. सतसई संजीवन भाष्य – पं. पद्मसिंह शर्मा; पृष्ठ १००

शब्दालंकार, ध्वनि और व्यंग्य आदि के साथ-साथ सांसारिक विशाल अनुभव के सैकड़ो अनुभूत विषयो का प्रकृष्ट वर्णन देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सतसई मे काव्यांगो के ऐसे ऐसे विशद उदाहरण भरे पड़े है जिनकी जोड़ के उत्कृष्ट और साफ उदाहरण श्रेष्ठतम साहित्य रीतिग्रथों मे भी ढूँढे नही मिल सकते।"[१७]

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि परवर्ती कवियो ने भी बहुत ही अधिक संख्या में बिहारी सतसई के भावो को ग्रहण किया है तथा मतिराम, देव,दास, पद्माकर, शीतल, रामसहाय, तोष, गिरिधरदास, दूलह, घासीराम, कालिदास, द्विजदेव, चिरजीवी, किशोर आदि रीतिकालीन और भारतेन्दु, हरिऔध, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, रसाल जैसे आधुनिक ब्रजभाषा कवियों ने भी बिहारी सतसई के भावो को निस्संकोच रूप से अपनाया है। इतना ही नहीं बिहारी सतसई के अनुवाद देववाणी संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती आदि भाषाओ में भी हुए है अतः इससे स्पष्ट है कि बिहारी सतसई का सतसई साहित्य में सर्वोत्तम स्थान है।

१७. बिहारी दर्शन – श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी'; पृष्ठ ८

शुक्लजी की चिन्तामणि के निबन्ध विषयप्रधान हैं या व्यक्तिप्रधान

वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक समर्थ समालोचक के साथ-साथ उत्कृष्ट निबंधकार भी थे[1] और उनके निबंध चिन्तामणि के दो भागों में संगृहीत है पर चिन्तामणि द्वितीय भाग स्वयं शुक्लजी द्वारा संगृहीत होकर प्रकाश में नही आया बल्कि उनके प्रिय शिष्य और काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व प्राध्यापक डॉ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संकलित सम्पादित होकर प्रकाश में आया है। इस प्रकार चिन्तामणि पहला भाग ही शुक्लजी द्वारा स्वयं संकलित एकमात्र निबन्ध-संग्रह है और इसमे उनके कुल सत्रह निबन्ध भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धाभक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध, कविता क्या है, भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्मभूमि, काव्य मे लोक मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध रूप नामक संकलित है। इन सत्रह निबन्धो पर विचार करते समय पाठको का ध्यान सर्वप्रथम इस ओर जाता है कि इन निबन्धो को विषयप्रधान माना जाय या व्यक्तिप्रधान क्योंकि स्वयं शुक्लजी ने अपने निवेदन मे यह निर्णय पाठकों पर ही छोड़ दिया है कि वे स्वयं निर्णय करें कि ये निबन्ध विषयप्रधान है या व्यक्तिप्रधान ?[2]

---

१. "हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में उन्होने जो कार्य किया वह किसी भी देशी व विदेशी साहित्य द्वारा स्पृहणीय है। निबन्ध के क्षेत्र में उनका कार्य अभूतपूर्व है। वर्तमान युग मे कोई ऐसा निबन्धकार नही दृष्टिगत होता जो उनकी श्रेणी के समक्ष रखा जा सके।"

—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : श्री शिवनाथ एम. ए ; पृष्ठ ३०२

२. "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ अंश है। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना

संभवतः यही कारण है कि समीक्षक यह निश्चय नही कर पाते कि चिन्तामणि के निवन्धो को किस कोटि में रखा जाय और वह परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं। इस प्रकार डॉ. गुलाबराय का कहना है कि " चिन्तामणि के निवन्ध दो प्रकार के हैं — कुछ मनोवैज्ञानिक जैसे— उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, लज्जा-ग्लानि, लोभ-प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि और कुछ साहित्यिक और आलोचनात्मक जैसे— कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप। इन दोनों ही प्रकार के निबन्धों मे शुक्लजी का निजी दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यक्त दिखाई पड़ता है। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी मनोविज्ञान की दृष्टि से नही लिखे गए। उनमे एक सूक्ष्म विश्लेषण है जिसकी संगति उनकी तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं मे से है और उनमे एक नैतिक पुट भी है। उनकी सारी आलोचनाओ में लोकसंग्रह को महत्व दिया गया है और इन निवन्धों में भी लोकहित की भावना को महत्व दिया गया है। क्रोध और भय को सामाजिक महत्व दिया गया है। उसी क्रोध की सराहना की गयी है जो अत्याचारी के अत्याचार को दूर करने के लिए हो। श्रद्धा मे श्रद्धास्पद के कार्यों को महत्ता दी गई है। प्रीति के प्रेम की एकनिष्ठता और वैयक्तिकता पर बल दिया गया है। इस प्रकार 'कविता क्या है' मे भी उनके वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रधानता मिली है। उसमें लोक सामान्य की भावभूमि, वैयक्तिकों के स्वार्थों का निषेध और मानव प्रवृत्ति के मूल रूपो पर जो सभ्यता की पेचीदगियों के भीतर भी झलकते दिखाई देते है, वल दिया गया है। साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद में उन्होने पश्चिम की अतिवैयक्तिकता का घोर विरोध किया है। प्रत्येक निबन्ध में शुक्लजी की आत्मा बोलती हुई सुनाई पड़ती है। — — विषय की दृष्टि से तो शुक्लजी के निवन्धो मे वैयक्तिकत्व है ही किन्तु शैली के दृष्टिकोण से यह वैयक्तिकता और भी निखार मे आ गई है। — — शुक्लजी के निवन्धों मे विषय का प्रतिपादन अवश्य है किन्तु उनमे उनके दृष्टिकोण की प्रधानता है।" [३]

रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कही मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा वहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

वस इतना ही निवेदन करके इस वात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोडता हूँ कि ये निवन्ध विषयप्रधान है या व्यक्ति प्रधान।"
—चिन्तामणि; पहला भाग ; निवेदन

३. अध्ययन और आस्वाद — डॉ. गुलाबराय ; पृष्ठ ३७५-३७७

ठीक इसके विपरीत श्री. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कहना है "शुक्लजी के निबन्धों मे प्रधानता बुद्धितत्त्व की है, हृदयतत्त्व की नही, हृदयतत्त्व सहायक मात्र है। इसके अतिरिक्त यह भी लक्षित करना चाहिए कि माइकेल मॉटेन का हृदयतत्त्व बहुत अधिक हलका है, उसमे वह सहृदयता नही है जिसमे रागात्मिकता वृत्ति का समावेश माना जा सके; इसके विपरीत शुक्लजी का जो कुछ भी हृदयतत्त्व निबन्धो मे समाविष्ट हुआ है वह समष्टि विरोधी वैयक्तिक इद्रिय-सुख की ओर न ले जाकर शेप सम्पूर्ण विश्व के प्रति सौहार्द और एकाकार के भाव की ओर अग्रसर करनेवाला है। अन्य शब्दो मे इसे यों कह सकते है कि मॉटेन के निबन्ध का हृदयतत्त्व अथवा आत्मज्ञापन तत्त्व चद्रिका की तरह कोमल और सरस है तो शुक्लजी के निबन्ध का हृदयतत्त्व सूर्य की किरणो की तरह कठोर है जिनके कल्याणकारी प्रभाव से ही शस्य का परिपाक सम्पन्न होने वाला है। × × ×

चिन्तामणि के प्रथम भाग के आंतरिक पृष्ठ पर लिखा गया है–'विचारात्मक निबन्धो का संग्रह'; क्या सारे के सारेसत्रह निबन्ध विचारात्मक निबन्ध ही है ? इस प्रश्न के उत्तर मे 'है' नही कहा जा सकता, कारण यह है कि अनेक निबन्ध ऐसे है जिनमे विचार सतुलन, विचार सगठन और विचारोत्पादन की क्षमता के स्थान मे किसी आलम्बन के सहयोग से भाव का विकास करने की प्रवृत्ति अधिक है; जिससे उन्हे भावात्मक निबन्ध कहना ही अधिक सार्थक होगा। किन्तु भावात्मक निबधों की नीव मे भी एक ऐसी विचारात्मकता विद्यमान है जो उनके स्वर को साधारण भावात्मक निबन्धो के स्तर से ऊँचा उठा देती है; इस दृष्टि से यदि हम चाहे तो उक्त सभी निबन्धो को विचारात्मक भी कह सकते है। यह सत्य होने पर भी हमे इन निबन्धो को भावात्मक और विचारात्मक दो श्रेणियो मे विभक्त करके ही अध्ययन की सुविधा करनी होगी।"[४] गिरीशजी के अतिरिक्त डॉ. जयनाथ 'नलिन'[५], डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा[६] और

४. समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल–श्री. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', पृष्ठ ५८-५९

५. "शुक्लजी ने विचारात्मक निबन्ध ही लिखे.... .शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी, मस्तिष्क और हृदयतत्त्व का सानुपातिक योग है।"–हिन्दी निबन्धकार : डॉ जयनाथ 'नलिन', पृष्ठ १४६–१४९

६. "उनके निबन्धो मे विपय की प्रधानता और लेखक के व्यक्तित्व का बराबर स्थान ठहरता है। अतएव कहा जा सकता है कि विपय तथा व्यक्ति का सामजस्य इनके निबन्धो का मुख्य गुण है।"

—हिन्दी साहित्य मे निबन्ध : डॉ ब्रह्मदत्त शर्मा, पृष्ठ ८५–८६

श्री शिवनाथ एम. ए.[७] ने भी शुक्लजी की चिन्तामणि के प्रथम भाग के निबन्धों के सम्बन्ध में अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि स्वयं शुक्लजी भी यह निर्णय नहीं कर पाए थे कि आखिर उनके निबन्ध विषय-प्रधान है या व्यक्ति-प्रधान और यह प्रश्न बार-बार उनके मन में उठता रहा है तभी उन्होंने यह निर्णय पाठकों पर ही छोड़ दिया परन्तु "शुक्लजी ऐसा क्यों सोच रहे थे ? उनकी दृष्टि व्यक्ति या विषय के चक्कर में क्यों अटकी थी ? इसके पीछे हैं पश्चिमी निबन्धकारों की वैयक्तिकता जो पश्चिमी निबन्धों में प्रधान तत्त्व मानी गई है। पश्चिम में विषय को प्रधानता प्राप्त नहीं हुई। विषय कुछ भी क्यों न हो, खरिया का टुकड़ा (A piece of chalk), बिल्लियाँ (Cats), हत्यारा (Murder) इत्यादि, वहाँ प्रधानता मिली निबन्ध में घुली वैयक्तिकता को। पश्चिम में निबन्ध आत्मपरक अधिक थे। निबन्धकार अपने सबध की अनेक घटनाएँ निबन्ध में भरता था। विषय का स्पर्श कर वह कहीं से कहीं पहुँच जाता था। निबन्धकार अपने जीवन से संबद्ध घटनाओं, व्यक्तियों इत्यादि को प्रमुखता देता था। वहाँ उसे ही वास्तविक निबन्ध स्वीकार किया जाता था जिसमें वैयक्तिकता का भरपूर समावेश हो और शैथिल्य भरा हो। इसी वैयक्तिकता की प्रमुखता देखकर आचार्य शुक्ल को बराबर ध्यान लगा था कि मेरे निबन्धों में पश्चिमी वैयक्तिकता कहाँ है ?"[८]

स्वयं शुक्लजी ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में निबन्ध की जो परिभाषा दी है[९] उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्धों में वैयक्तिकता या व्यक्तित्व का प्रकाशन वे दो प्रकार से मानते है—प्रथम तो शैली द्वारा और द्वितीय लेखक के भाव-विचारों के रूप में। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में साहित्य परिषद् के सभापति पद से भाषण देते समय भी उन्होंने यही कहा था "काव्य समीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य कोटि में वे ही आते है जिनमे बुद्धि के अनुसंधान क्रम या विचार

---

७. "उनके निबन्ध विचारात्मक होने के कारण विषयप्रधान तो है ही, पर साथही उनमे व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नही है। उनके निबन्धों में वस्तुतः उन्होंने वैयक्तिक निबन्धों का आदर्श प्रस्तुत किया।"
—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल . श्री शिवनाथ, पृष्ठ २४४

८. साहित्य सरोवर—डॉ. गोपीनाथ तिवारी; पृष्ठ ३७२

९. "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो

परम्परा द्वारा गृहीत अर्थो या तथ्यो के साथ लेखक के व्यक्तिगत वाग्-वैचित्र्य तथा उनके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हो।" इस प्रकार शुक्लजी के कथनानुसार निबन्धो मे विषय की प्रधानता के साथ-साथ व्यक्तित्व का प्रकाशन भी संभव है और यही कारण है कि चिन्तामणि पहला भाग के निबन्ध उद्देश्य, प्रवृत्ति व शैली तथा पाठक को उपलब्धि आदि की दृष्टि से विषय-प्रधान होते हुए भी निजी जीवन की अनुभूतियो, व्यक्तिगत संस्मरणों व घटनाओ से शून्य नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन निबन्धो मे पाठकों का ध्यान विशेप रूप से विषय की ओर ही रहता है और उसकी वुद्धि विपय के गभीर पक्षो पर ही दौड़ती है तथा लेखक की शैली भी विषय-प्रधान ही रही है।

ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेपता' का यह मतलब नही कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारो की श्रृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह जगह से तोड दी जाय, भावो की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनके अनुभूति के प्राकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भापा से सरकस वालो की सी कसरते या हठयोगियो के से काम कराए जायँ जिसका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातो से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक सधान के अनुसार किसी का मन किसी सबध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सबध सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तो के भीतर की नसो के समान, चारो ओर एक जाल के रूप मे फैले हैं। तत्त्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सबध सूत्रो को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरे मे कही नही फँसता। पर निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी विशेपता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रो की टेढी-मेढी रेखाएँ ही भिन्न भिन्न लेखको का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती है। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न भिन्न दृष्टियो से देखना। व्यक्तिगत विशेपता का मूल आधार यही है।"
—हिन्दी साहित्य का इतिहास प रामचन्द्र शुक्ल, पृ॰ ५०५–५०६

फलतः इन निबन्धो को विपय-प्रधान ही माना जाता है पर विषय-प्रधान होते हुए भी ये व्यक्तिनिष्ठ हैं और इनमे शुक्लजी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है।

यदि हम विचारपूर्वक देखे तो शुक्लजी के इन निबन्धो मे हमे उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन तीन रूपो मे दीख पडता है। पहला रूप तो वह है जहाँ उन्होने अपने जीवन के किसी प्रसंग का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है;[१०] दूसरा रूप वह है जब उक्त वर्णन सकेत मात्र तक सीमित होकर रह गया है[११] और तृतीय रूप वह है जिसमे उन्होने वस्तु, विचार या परिस्थिति के पक्ष या विपक्ष मे कुछ कहकर अपनी मनोवृत्ति की एक झलक दिखलाई है।[१२] इन उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तामणि के निबन्धो मे विपय और व्यक्तित्व का जैसा सुयोग है, वैसा बहुत कम देखने मे आता है तथा विश्व साहित्य मे भी बहुत ही कम ऐसे विचारात्मक निबन्ध मिलेगे जिनमे विचारो की

---

१०. "खलियानो और रेल्वे स्टेशनो पर जाने से भिन्न भिन्न प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियो ने तुरन्त की जोती हुई भूमि से उठी हुई सोंधी महक का, हिरणो के द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है। फरासीसी उपन्यासकार जोला की गधानुभूति बडी सूक्ष्म थी। उसने योरोप के कई नगरो और स्थानो की गध की पहचान बताई है। इसी प्रकार बहुत से शब्दो का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि मे, विशेषत. वर्षा की रात्रि मे, झीगुरो और झिल्लियो के झंकार मिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुनकर लडकपन मे मै यही समझता था कि रात बोल रही है।"
—चिन्तामणि पहला भाग : पं. रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २४४

११. "थोडे दिन हुए, किसी लेखक ने कही पढा था कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिए होते है। तब से वे बराबर अपने मे इन दोनो शुभ लक्षणो की स्थापना के यत्न मे लगे रहते है। सुनते है कि पहले मे वे कुछ कृतकार्य हुए है, पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी खेल नही, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बाते मुँह से निकल ही जाती है।'
—चिन्तामणि पहला भाग . पं. रामचन्द्र शुक्ल; पृष्ठ २८

१२. "बहुत से पुराने मकानो की कारीगरी देखिए तो उसमे बहुत सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेलबूटो की भिन्न भिन्न

गहन गुंफित परम्परा के साथ-साथ व्यक्तित्व का भी इस प्रकार विविध मार्मिक प्रकाशन हुआ है।

अंत मे हम इसी निर्णय पर पहुँचते है कि चिन्तामणि मे संगृहीत निबन्धों मे विषय के साथ साथ व्यक्तित्व की निहिति स्वतः हो गई है और उनमें उन दोनो तत्वो का उपयुक्त व सयत संनिवेश मिलता है।

पटरिया दीवारो मे लगी हुई मिलेगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पडेगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबो का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालो ने नही किया, वह स्पष्ट दिखाई पडेगा। ऐसे कामो मे अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है, पर विचार और सफलता-पूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ में लेकर देखने की चीज नहीं है, दस पाँच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज है।"

—चिन्तामणि पहला भाग . प रामचद्र शुक्ल; पृष्ठ २४

आँसू का भाव-सौन्दर्य

जैसा कि हम एक स्थान पर लिख चुके हैं "पाश्चात्य विद्वान विंचेस्टर ने काव्य के मूल में भाव तत्त्व (Emotional Element), बुद्धि तत्त्व (Intellectual Element), कल्पना तत्त्व (The Element of Imagination) तथा शैली तत्त्व (The Element of Style) नामक चार तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में कविता में इन्हीं चार तत्त्वों की आवश्यकता समझी जाती है तथा इन्हीं के आधार पर उसका रूप भी निर्धारित किया जाता है परन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य के अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष नामक दो पक्ष ही आवश्यक माने हैं। यों तो इन दोनों पक्षों का अपना अपना निजी महत्त्व भी है लेकिन वास्तव में दोनों एक दूसरे से सम्बंधित ही हैं। जिस प्रकार कुछ दार्शनिक शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं उसी प्रकार कुछ विचारकों ने अलंकार और रीति को काव्य के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए अभिव्यक्ति को महत्त्व प्रदान किया है परन्तु कविता का मुख्य आधार भाव ही है। स्मरण रहे, पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य का सर्वप्रथम तत्त्व भाव ही माना है तथा शेष तीनों को वे उसे पुष्ट करने, उसके लिए सामग्री उपस्थित करने और साथ ही अभिव्यक्ति में सहायक होने के लिए आवश्यक समझते हैं अतः इस प्रकार कविता में भाव पक्ष को ही प्रधानता दी जानी चाहिए।"[१]

भाव पक्ष को ही हृदय पक्ष भी कहा जाता है और आचार्य भरत ने 'नाट्य शास्त्र' में 'कवेरंतर्गतं भावं भावयन भाव उच्यते' नामक उक्ति द्वारा कवि के अंतर्गत भाव की भावना करने से ही भाव संज्ञा मानी है। चूंकि भाव प्रत्येक व्यक्ति के अंतस् का एक धर्म है अतः वर्णनातीत व अनुभवगम्य भाव है और इसीलिए जब हम किसी भी कवि या काव्यकृति की भावव्यंजना पर विचार करना चाहते हैं तब भावों से हमारा अभिप्राय रीतिशास्त्र के रस पोषक भावों से ही रहता है अर्थात् हम उन भावों पर प्रकाश डालते हैं जो कि रस परिपाक में पूर्ण

---

१. हिन्दी कविता : कुछ विचार—दुर्गाशंकर मिश्र: पृ. ४४

समर्थ हो सके है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों मे "इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्यिको का सारा भाव निरूपण रस की दृष्टि से है।"[२] संस्कृत साहित्य के प्राचीन विचारक मंखक ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'श्रीकंठ चरित' में स्पष्टत: कहा है कि सैंकड़ो अलंकारो से अलंकृत होकर, शब्दशास्त्र के उच्चासन पर अधिष्ठित होकर तथा और भी सब प्रकार के सौष्ठव से सुशोभित होकर रस-रूपी अभिषेक के अभाव मे कोई भी प्रबंध काव्याधिराज की उच्च पदवी पर नही पहुँच पाता तथा अन्य विद्वानो ने उसका–रस का–आस्वाद ब्रह्मानंद के ही सदृश्य माना है। भट्टनायक का रस को 'ब्रह्मानद सचिव:' तथा विश्वनाथ का रस को 'ब्रह्मानद सहोदर:' कहना हमारे इसी मत की पुष्टि करता है। इस प्रकार प्राचीन विचारको ने रस को काव्य की आत्मा मानकर उचित ही किया है।

डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "सर्वप्रथम नाटचशास्त्र के निर्माता आचार्य भरत ने रस का रूप निर्धारित करते हुए कहा--

विभावानुभाव व्यभिचारी सयोगाद्रस निष्पत्ति.।

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सयोग से ही रस-निष्पति होती है। भाव का परिचय देनेवाला विभाव है, जो आश्रय और उद्दीप्त की दृष्टि से आलम्बन और उद्दीपन विभाव का रूप ग्रहण करता है। जिन क्रियाओ से भाव का अनुभव या अनुमान हो वह अनुभाव है। इसके तीन प्रकार है-- सात्विक, कायिक और मानसिक। जो भाव बार बार उत्पन्न होकर संचारित होते हैं, वे संचारी भाव हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न स्वाद वाले पदार्थों को एक साथ मिलाने से एक विशेष रस उत्पन्न होता है, जिसने किसी एक पदार्थ का स्वाद नही होता, किन्तु सबसे भिन्न एक विलक्षण स्वाद हो जाता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या सचारी भाव के एकत्र होने से जो विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का नाम 'रस' है। भट्ट लोल्लट ने 'प्रतीयमान', शकुकि ने 'चर्व्यमान', भट्टनायक ने भुज्यमान' और अभिनव गुप्त एवम् मम्मट ने 'आस्वाद-मान' के विशेषणो से 'रस' की अनुभूति का परिचय दिया है। आनन्दवर्धनाचार्य और पडितराज जगन्नाथ ने तो काव्य में रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।"[3] हमारे अधिकाश प्राचीन समीक्षको ने रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह,

---

२. रसमीमासा – पं. रामचन्द्र शुक्ल, पृ १४८

३. साहित्य शास्त्र – डॉ रामकुमार वर्मा, पृ. ९०

भय, जुगुप्सा या घृणा, आश्चर्य (विस्मय) और निर्वेद या शम नामक नौ प्रमुख स्थायी भाव मानकर शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त नामक नौ प्रमुख रस माने हैं।

'आँसू' श्री जयशंकर 'प्रसाद' की उल्लेखनीय काव्यकृति है और जैसा कि डॉ. विनयमोहन शर्मा का कहना है उनका "मुख्य भाव विरह शृंगार है जो करुणा के सिंचन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शांत कल्पना से पूत हो उठा है।"[४] वस्तुतः शृंगार रस के संयोग और वियोग– जिसे कि विप्रलंभ शृंगार भी कहते हैं–नामक दो भेद होते हैं तथा संयोग शृंगार में नायक-नायिका की संयोगावस्था का और वियोग शृंगार में वियोगावस्था का चित्रण किया जाता है। चूँकि 'आँसू' "प्रसाद के संसारी प्रेम व्यापार का वियोगात्मक आख्यान है जिसे कवि ने कला के आवरण में बड़ी कुशलता से सजाकर रख दिया है"[५] अतः उसमें स्वाभाविक ही विरह भावना की प्रधानता है और उसे एक श्रेष्ठ विरह काव्य भी कहा जाता है परन्तु वियोग शृंगार, शृंगार रस का ही एक भेद है अतः रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से आँसू को शृंगार रस पूर्ण काव्य ही मानना होगा।

सामान्यतया संयोग शृंगार के अंतर्गत प्रेम के मिलन पक्ष व उसकी सुखपूर्ण क्रीडाओं का वर्णन होता है पर 'आँसू' मूलतः विरह काव्य ही है अतः कवि ने स्वतंत्र रूप से कहीं भी संयोग शृंगार का वर्णन नहीं किया और जहाँ कहीं भी संयोगावस्था का वर्णन हुआ है वह विरह वर्णन की स्मृति नामक दशा के अंतर्गत ही हुआ है। वस्तुतः "आँसू में कवि निःसंकोच भाव से विलास जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अंत में जीवन से समझौता करता है।"[६] इस प्रकार कवि अपनी कृति में अपने विगत सुखमय क्षणों पर लालसापूर्ण दृष्टिपात करता है और 'आँसू' में प्रारम्भ में ही कह देता है कि उसका सारा सुख नष्ट हो गया तथा हृदय में स्मृतियों के कुछ चिन्ह मात्र शेष रहे हैं—

बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महा मिलन के॥

यही कारण है कि कवि अपने सुखमय अतीत की स्मृति कर अपनी वेदना को

---

४. साहित्यावलोकन–डॉ. विनयमोहन शर्मा, पृ. ६३
५. हिन्दी कलाकार–डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ. २०४
६. जयशंकर प्रसाद–श्री नन्ददुलारे वाजपेयी; पृ. ६३

विस्मरण कर देना चाहता है और विगत सुखभरी घड़ियों की याद करते हुए कहता है—

इस हृदय कमल का घिरना अलि अलकों की उलझन में
आँसू मरन्द का गिरना मिलना निश्वास पवन में।
मादक थी मोहमयी थी मन बहलाने की क्रीडा,
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

कवि को वह मधुर क्षण भी याद आता है जब उसका प्रिय उससे भेंट करने आया था और उसका मन स्वाभाविक ही हर्षपूर्ण हो उठा था—

कितनी निर्जन रजनी मे तारो के दीप जलाये
स्वर्गंगा की धारा मे उज्ज्वल उपहार चढाये।
गौरव था नीचे आये प्रियतम मिलन को मेरे
मै इठला उठा अकिंचन देखे जो स्वप्न सबेरे।

कवि को मिलन का वह सुखद क्षण भी स्मरण हो आता है जब वसत चंद्रिका से स्नात निशा मे उसने सर्वप्रथम अपने प्रिय की छवि देखी थी और वह कहता है—

मधु राका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुमको,
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको।
परिचय राका जलनिधि का जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणे आती मिलती है गले लहर से।
मै अपलक उन नयनो से निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता कर देता दान सुकवि को।
निर्झर सा झिर झिर झरता माधवी कुंज छाया मे
चेतना वही जाती थी हो मंत्रमुग्ध माया में।
पतझड़ था झाड खडे थे सूखी सी फुलवारी मे
किसलय नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में।

कवि कहता है कि उसके प्रिय का सौन्दर्य अनुपम था और जब उसने उसकी छवि निहारी तब उसके नेत्रो मे उसका रूप समा सा गया—

घन मे सुन्दर बिजली सी बिजली मे चपल चमक सी
आँखो मे काली पुतली पुतली मे श्याम झलक सी।
प्रतिमा मे सजीवता सी बस गई सुछवि आँखो मे
थी एक लकीर हृदय मे जो अलग रही लाखों मे॥

कवि ने प्रिय के रूप सौन्दर्य का विशद चित्रण भी किया है[७] और इसके पश्चात वह अपने संयोग सुख की स्मृति करते हुए कहता है—

हिलते द्रुम दल किसलय देती गलबाही डाली।
फूलो का चुम्बन छिड़ती मधुपो की तान निराली॥
मुरली मुखरित होती थी मुकुलो के अधर विहँसते।
मकरन्द भार से दबकर श्रवणो मे स्वर जा बसते॥
परिरम्भ कुम्भ की मदिरा निश्वास-मलय के झोके।
मुख चन्द्र चाँदनी जल से मै उठता था मुँह धोके॥
थक जाती थी सुख रजनी मुख चन्द्र हृदय मे होता।
श्रम सीकर सदृश नखत से अम्बर पट भीगा होता॥

इस प्रकार हम देखते है कि विरह के अतर्गत स्मृतिरूप मे आँसू के रचयिता ने संयोग सुख की जो झलक दी है उसमे सयोग शृगार अपने निखरे हुए रूप में दृष्टिगोचर होता है और हम कह सकते हैं कि विरह भावनाओ की अधिकता होते हुए भी आँसू मे सयोग शृगारपूर्ण पक्तियाँ भी है।

इसमे कोई सदेह नही कि विरह शृगार का वर्णन ही आँसू मे विशेष रूप से है और कवि ने आँसू के प्रारंभ मे ही उसकी भूमिका सी बाँध दी है—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक मे स्मृति सी छाई
दुर्दिन मे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई

इसके पश्चात आँसू के प्रथम छन्द मे ही कवि की वेदना के असीम सागर की गरज सुनाई पडती है—

इस करुणा कलित हृदय मे
क्यो विकल रागिनी बजती
क्यो हाहाकार स्वरो मे
वेदना असीम गरजती

---

७. उदाहरणार्थ—

बाँधा था विधु को किसने, इन काली जजीरों से।
मणि वाले फणियो का मुख क्यो भरा हुआ हीरो से॥
काली आँखो मे कितनी, यौवन के मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली॥

और भी—

अंकित कर क्षितिज पटी को तूलिका बरौनी तेरी।
कितने घायल हृदयो की बन जाती चतुर चितेरी॥

और कवि स्मृति रूप मे सयोग के कुछ मधुर चित्रों को अकित करने के पश्चात कहता है कि संयोगावस्था मे जो प्रेम बर्फ के समान लगता था वही विरहावस्था मे अब अगारे बरसाने लगा है--

हीरे सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिम शीतल प्रलय अनल बन
अब लगा विरह से जलने

इसके उपरान्त कवि की विरह कथा प्रारभ हो जाती है और कवि विस्तार के साथ अपनी वेदना का वर्णन करता है तथा "जो आँसू अतीत वैभव के अभाव में बहने आरम्भ हुये वे जीवन के तत्त्वज्ञान को जगाते हुए आशा के तत्त्वज्ञान के साथ समाप्त हुए है। विलास का युग समाप्त हो गया है; उसकी जो कचोट, जो पीड़ा, वासना का जो दंश कवि मानव को आलोकित करता और चुभता तथा छेदता था उसका भी अंत हो गया है। कवि ने फिर जीवन मार्ग ग्रहण किया है। इस मार्ग मे प्रेम उसका सबल है, परन्तु अब मानिक मदिरा का स्वप्न मिट गया है; पावन प्रभात के कर्म-प्रेरक प्रकाश की एक लपक मन मे आयी है। अब कवि ने अनुभव किया है कि जन्म जन्म से सुख दु खमय जीवन का यह चक्र चल रहा है, इसलिये शरीर रंजन और शरीर के आकर्षण को लेकर इस अनंत चक्र में हम चल नही सकते। प्रेम मानस पूजा का रूप लेकर ही स्थायी और अनंत हो सकता है।"[८] इस प्रकार विरह श्रृगार से ओतप्रोत 'आँसू' केवल कवि की आत्माभिव्यक्ति न रहकर अंत मे व्यापक दर्शन मे भी परिवर्तित हो जाता है और कवि अब तक जिस विरह ज्वाला को केवल अपने अतर मे प्रज्वलित देख रहा था उसे कण कण मे व्याप्त देखता है तथा यही अभिलाषा करता है कि उसके आँसू विश्व को भी सरस कर दे और उसके हृदय की ज्वाला विश्व को प्रकाश प्रदान करे--

सबका निचोड़ लेकर तुम,
सुख से सूखे जीवन मे।
बरसो प्रभात हिमकन सा,
आँसू इस विश्व सदन में।

इस प्रकार आँसू के विरह वर्णन मे जहाँ कि एक ओर स्वस्थ जीवन-दर्शन है वहाँ दूसरी ओर उसमे प्राचीन आचार्यो द्वारा कथित विरह के प्रलाप, निद्राभंग, ग्लानि, चिन्ता, मोह, स्मृति, व्रीडा आदि संचारी भावो का भी समावेश हुआ है

---

८. कवि प्रसाद की काव्य-साधना--श्री. रामनाथ 'सुमन', पृष्ठ ७७

अत हम देखते है कि उसमें शास्त्रीयता के साथ-साथ नवीनता भी है और यही नवीनता विप्रलम्भ काव्य परम्परा मे उसे उत्कृष्ट स्थान प्रदान करती है।

अंत मे हम कह सकते है कि यद्यपि आँसू मे अन्य रसो की योजना नही हुई और केवल शृगार रस की अभिव्यंजना ही उसमें हुई है परन्तु भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे पूर्ण सफल कृति ही मानना होगा। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से आँसू की प्रशसा करते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने कहा भी है "आँसू कामायनी की पूर्व पीठिका है। कामायनी के प्रबन्ध विस्तार का बीज उसमे भी धरती फोड़कर ऊपर उठता दिखता है। जिस प्रकार मनु के अतीत सुख की चिन्ता अनन्त मे दुःख की असंख्य रेखाएँ उगाती है उसी प्रकार आँसू के कवि का अतीत चिन्तन भी पीड़ा को घनीभूत करता है। किन्तु, जिस प्रकार उस विश्ववन की व्याली का विप अमृत बनता है.... उसी प्रकार आँसू की दंशहीन वेदना क्रमशः उन्नीत हो अकुंठित करुणा के स्वर से जीवन की पूर्णता को रससान्द्र बनाती है.... विरह मिलन, सुख दु:ख के खंड सत्य को अखड आनन्द की यह सहज उपलब्धि प्रसाद के काव्य की देन है। प्रकृति और मानव प्रकृति का द्वन्द्व दिखलाना और बात है; प्रकृति पर मानव की बाह्य विजय का प्रदर्शन भी वैज्ञानिक के नाते सफल हो सकता है पर प्रसाद की समरसता तो प्रकृति तथा मानव प्रकृति का आत्मिक स्तर पर सम्पूर्ण मिलन है; शिव और शक्ति का सामंजस्य है जिससे परस्पर के विलयन से–'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' निराशा से आशा की ओर और फिर आशा से आत्मोपलब्धि की ओर, अखंड आनन्द की ओर गत्यात्मक जीवन-साधना का यह ऐसा क्रमिक विकास ही प्रसाद के काव्य में निर्दिष्ट हुआ है।"[९]

---

९. प्रसाद का साहित्य–प्रसाद परिषद; काशी; पृष्ठ ४६–४७

वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य में श्री. वृन्दावनलाल वर्मा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है और वर्माजी की कृतियों का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें विविधमुखी प्रतिभा है पर प्रसिद्धि उन्हें उपन्यासकार के रूप में ही अधिक प्राप्त हुई है। हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि यद्यपि वर्माजी को ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही विशेष ख्याति प्राप्त हुई है पर उनके सामाजिक उपन्यास भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखते और उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिए हमें उनके समस्त उपन्यास साहित्य का ही अनुशीलन करना चाहिए। हमारा उद्देश्य यहाँ श्री. वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला का परिचय देना है और इस प्रकार हम यहाँ यही स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि वर्माजी के उपन्यासों में औपन्यासिक तत्त्वों का कहाँ तक सम्यक् निर्वाह हुआ है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राय: समीक्षक अपनी-अपनी दृष्टि से उपन्यास के तत्त्वों का निर्धारण करते हैं और इसीलिए तीन से लेकर आठ तक औपन्यासिक तत्त्व माने जाते हैं पर अधिकांश विचारकों ने उपन्यास के निम्नलिखित छह तत्त्व ही माने हैं—१. कथावस्तु २. पात्र और चरित्रचित्रण ३. कथोपकथन ४. भाषा-शैली ५. देशकाल और वातावरण तथा ६. उद्देश्य या जीवनदर्शन। इस प्रकार हम यहाँ इन्हीं छह तत्त्वों को स्वीकार कर संक्षेप में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि वर्माजी के उपन्यासों में इन तत्त्वों की योजना किस प्रकार हुई है।

औपन्यासिक तत्त्वों में कथावस्तु या कथानक ही वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिस पर उपन्यासरूपी भवन निर्मित होता है और इसमें उपन्यासकार की प्रतिभा का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। सामान्यतया घटनाओं को क्रम से सजाना या उनकी विशिष्ट आयोजना ही उपन्यास साहित्य की कथावस्तु कहलाती है पर इस कथावस्तु द्वारा ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि कथाकार अपनी कथा का सूत्र किस प्रकार से और कहाँ से खोजकर लाता है। साथही कथावस्तु-संविधान में भी

उपन्यासकार को पर्याप्त सतर्कता रखनी पड़ती है क्योंकि पर्सी लब्बक का यही मत है "उपन्यास घटनाओं की शृंखला मात्र नहीं है। वह एक सम्पूर्ण चित्र या आलेख्य है जिसमे रूप, प्ररेचन एव समानुविधान भी आवश्यक होता है।"[1] यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमे यही प्रतीत होगा कि वर्माजी इस युग के उल्लेखनीय कथाकार है[2] और उनके पास कथानकों का अनुपम भडार भी है। यद्यपि वर्माजी ने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनो ही प्रकार के उपन्यास लिखे है पर उनके अधिकाश उपन्यास ऐतिहासिक ही है तथा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे ही उन्हे बहुत अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। यहा यह भी नही भूलना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को कथा-निर्माण मे अत्यधिक सतर्कता दिखानी पड़ती है पर वर्माजी ने इस ओर पूर्ण ध्यान दिया है और वह पहले तो श्री. जयशंकर 'प्रसाद' की भाँति समस्त ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन करते है तब उपन्यास लिखते हैं। यह बात उनकी कृतियो के प्रारंभ मे दिए गए परिचय, भूमिका या लेखकीय वक्तव्य आदि से स्पष्ट भी हो जाती है। उदाहरणार्थ, अपने एक उपन्यास 'मृगनयनी' के परिचय मे उन्होने निम्नलिखित ग्रंथो व ग्रंथकारो का उल्लेख किया है--

१. फरिश्ता का इतिहास-लेखक।

२. सिकन्दर लोदी के दरबारी इतिहास लेखकों व अखबारनवीसो के ग्रंथ।

३. मानसिह के राज्यकाल पर अँग्रेज इतिहास-लेखक।

४. फारसी की तारीख 'नीराते सिकन्दरी' (इलियट और डासन द्वारा अनुदित)

५. ग्वालियर गजेटियर।

इससे यह स्पष्ट है कि वर्माजी अध्ययन के लिए पुरातत्त्व विभाग की पूर्ण सहायता लेते है और अपने प्रायः सभी ऐतिहासिक उपन्यासो की कथा के निर्माण

---

१ The Craft of Fiction—Lubbock, P. 62

२. "वर्माजी इस युग के सबसे अच्छे कहानी कहने वाले है। जहाँ और उपन्यासकार कथानक की ओर उदासीन रहने लगे है और रस के लिए तरह तरह की रसिकता का सहारा लेने लगे है वहाँ वर्माजी अपनी सरस कथा से पाठक का मन बाँधे रहते है और अंत तक उत्सुकता बनाये रखते है।"

--डॉ. रामविलास शर्मा

लेखक का लक्ष्य रहा है। इस कल्पना की तीन सीमाएँ उनके उपन्यासों में उपलब्ध होती हैं।" इस प्रकार वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रमुख घटनाएँ व पात्र इतिहास सम्मत हैं पर कल्पनात्मक साधनों का भी पर्याप्त योग रहा है और उन्होंने इतिहास के साथ साथ परम्परा का भी प्रयोग किया है तथा यह परम्परा जनश्रुतियों, किम्वदंतियों, लोककथाओं व लोकगीतों पर आधारित है लेकिन परम्परा का उपयोग करते समय वह उसकी संगति-असंगति व विश्वसनीयता का विचार भी अवश्य रखते हैं। साथही वह अपने उपन्यासों के घटनास्थलों का प्रत्यक्ष निरीक्षण इतना अधिक आवश्यक समझते हैं कि इसके बिना अपनी पुस्तक ही प्रकाशित नहीं करते और अपने इस भ्रमण मे वह जन सामान्य से भी आवश्यक जानकारी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों के 'कथानको की आधारशिला ऐतिहासिक अनुसंधान पर टिकी हुई हैं' लेकिन सामाजिक उपन्यासो मे भी उन्होने कहीं भी असंभाव्य मतों को व्यक्त नहीं किया।

वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु मे रमणीयता, रोचकता और सरसता की त्रिवेणी सी प्रवाहित हो रही है तथा प्रत्येक उपन्यास मे मूल कथानक के साथ साथ आवश्यकतानुसार प्रासंगिक कथाओ की योजना भी हुई। इन प्रासंगिक कथाओ की सृष्टि उद्देश्यपूर्ण ही है और उनके द्वारा न केवल मूल कथा को शक्ति प्राप्त हुई हे अपितु रोचकता एवम् प्रभावशालिता की भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार प्रासंगिक कथाओ का अपना निजी महत्व है और मूल कथा के साथ ये उसी प्रकार सम्बद्ध हैं जैसे कि वृक्ष के तने के साथ पेड़ की अनेक शाखाएँ। वस्तुतः इन प्रासंगिक कथाओ की सृष्टि मे वर्माजी का उद्देश्य युगीन समस्याओं का चित्रण करना रहा है और जहाँ मूल कथा मे समस्याओ का अंकन सहज संभव्य था वहाँ तो उन्हें मूल कथा में ही गूंथ दिया गया है पर जहाँ यह बात आसान न थी वहाँ इन्हे प्रासंगिक कथाओ में उभारा गया है। इस प्रकार कतिपय अपवादों के अतिरिक्त सर्वत्र ही वर्माजी के उपन्यासों में प्रासंगिक कथाओं की सुम्बद्ध योजना ही हुई है।

यदि हम वर्माजी के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का अनुशीलन करें तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके सभी उपन्यासो में एक या अनेक समस्यायें व्यक्त हुई हैं और सामाजिक एवम् ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में जो समस्यायें व्यक्त हुई उनके मूल में लेखक की आधुनिक विचारधारा ही सर्वोपरि रही है पर अभिव्यक्त समस्यायें आधुनिक युग के साथ साथ अपने युग से भी सम्वंधित हैं। इसीलिये वर्माजी के उपन्यासो की कथा का महत्व और भी अधिक बढा हुआ जान पड़ता है तथा सुप्रसिद्ध कलाकार श्री. जयशंकर 'प्रसाद' की भांति श्री. वृन्दावनलाल वर्मा को भी अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान

का ज्वलंत चित्रन करने मे अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और अपनी इसी विशेषता के वल पर वर्माजी के उपन्यासों का महत्व प्रत्येक युग मे अक्षुण्ण वने रहने की संभावना की जाती है।

चूंकि वर्माजी कहानी कहने की कला मे अत्यधिक पटु है अतः वे घटनाओं का चयन भी कुछ इतनी सतर्कता के साथ करते है कि उनमे पाठको को प्रभावित करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। वर्माजी कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानने मे भी पूर्ण सिद्धहस्त है और वह घटनाओं की योजना कुछ इस प्रकार करते हैं कि उनका प्रभाव दीर्घकाल तक विद्यमान रहता है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दो मे "कथा का विस्तार करने मे वर्माजी सवसे प्रभावशाली दृश्यो को आखिर के लिये रखते है। क्लाइमेक्स रचने की दृष्टि से उनका कौशल सराहनीय है।" यह कथन नितान्त सत्य है और वर्माजी के प्रत्येक उपन्यास मे हमे कोई न कोई घटना ऐसी अवश्य मिलती है जो कि मर्मस्पर्शी होने के साथ;साथ इतना अधिक प्रभावशाली होती है कि पाठक उसे दीर्घकाल तक विस्मरण नही कर पाता और इस प्रकार के प्रसंगो से कथानक मे भी अनुपम सौन्दर्य आ जाता है। उदाहरणार्थ, वर्माजी के सर्वप्रथम प्रकाशित उपन्यास 'गढ़कुंडार' का वह अंतिम दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ अग्निदत्त युद्ध के भीषण वातावरण के मध्य गर्भवती मानवती की रक्षा मे अपने प्राणो की वलि दे देता है। मानवती अग्निदत्त की प्रेमिका थी पर उसका विवाह अन्यत्र हो जाता है अतः अपमानित अग्निदत्त प्रतिशोध लेने की लालसावश खंगारो पर आक्रमण कर देता है। भीषण युद्ध होता है और गर्भवती मानवती भी युद्धक्षेत्र मे पडी प्रसव-पीड़ा के कारण कराहने लगती है। अग्निदत्त भी वहीं पहुँच जाता है पर मानवती उसे पहचान नही पाती और उससे कहती है 'मुझे मारो मत। मेरे आभूषण ले लो। मैं गर्भवती हूँ और मेरे स्वामी न जाने कहाँ है?' अग्निदत्त उसे पहचान लेता है और अपना परिचय देता है पर उसे यह विश्वास नही हो पाता कि अग्निदत्त भी ऐसा कर सकता था। अपने कार्यो पर अव अग्निदत्त को भी पश्चात्ताप होता है और वह अपने को धिक्कारता भी है। इसी वीच कुछ वुंदेला सैनिक खंगारों की खोज मे वहाँ पहुँच जाते है लेकिन इसके पूर्व ही अग्निदत्त को यह ज्ञात हो चुका था कि मानमती को शीघ्र ही वच्चा होने वाला है। अतएव "उसने अपना कवच और कपड़े उतार कर विछा दिये, केवल धोती पहने रहा। रोना चाहता था परन्तु हृदय मे आँसू की एक वूंद भी न थी। उसी समय मानवती ने वच्चा जना जिसको अग्निदत्त ने अपने पहले से विछाए हुए कवच और कपड़ों पर लिटा दिया। मानवती अचेत हो गई। वच्चा रोने लगा।

वच्चे के रोने की आवाज वुंदेले सैनिकों को वहाँ खींच लाती है। दलपति वुंदेला तुरन्त ही कहता है—'मारो इस खंगार को। उतार लो आभूषण इस

स्त्री के।' अग्निदत्त घायल था पर उसमे न जाने कहाँ से अद्‌भुत बल आ जाता है। वह मानवती और उसके पुत्र की रक्षा मे तलवार खीच लेता है। अग्निदत्त और भी घायल हो जाता है। "गोरे साँवले शरीर पर एकाध घाव से रक्त रेखाओ मे बहकर फैल गया था। छिटकी हुई चाँदनी में उसका चमचमाता हुआ खड्‌ग और दमकता हुआ लहूलुहान नंगा शरीर ऐसा मालूम पड़ा जैसा कोई तारा पृथ्वी पर टूट कर गिरा हो।"

इतने पर भी दलपति अग्निदत्त को नही छोड़ता और कहता है 'मैं तो इस जनी के गहने और बेईमान सिपाही के प्राण लेकर ही यहाँ से जाऊँगा।' अग्निदत्त मारा जाता है। बुदेलो की विजय होती है। किले से बुदेलो की जयजयकार की आवाजे आती है और इधर मृतप्राय अग्निदत्त के समीप शिशु चीखता है।

निस्सदेह यह दृश्य इतना अधिक प्रभावोत्पादक है कि नेत्रो के समक्ष अटल रहता है और इसमे एक ओर तो सामन्तशाही का घृणित रूप व्यक्त हुआ है तथा दूसरी ओर मानवतावादी विचारधारा भी सुघरे हुए रूप मे झलकती है। इस प्रकार के उदाहरण वर्माजी की प्राय समस्त औपन्यासिक कृतियो मे मिल जाते है और बिखरी हुई घटनाओ को एक सूत्र मे पिरोये रखने मे भी वर्माजी अत्यत सिद्धहस्त हैं तथा कथानक के विच्छिन्न सूत्रो को एक तारतम्य मे पिरोये रखने के कारण ही उनके औपन्यासिक कथानको मे आश्चर्यमयी गति के दर्शन होते है। हम यह स्वीकार करते है कि वर्माजी के उपन्यासो की कथावस्तु मे कतिपय त्रुटियाँ भी दीख पडती है और कभी कभी तो प्रासगिक कथाओ का अतिरेक मूल कथा के सौन्दर्य को तो क्षति पहुँचाता ही है पर अमरबेल, सगम व प्रत्यागत आदि कुछ उपन्यासो की कथावस्तु मे नीरसता भी है लेकिन इन निर्बलताओ के होते हुए भी कथा-सौन्दर्य निखरा हुआ ही प्रतीत होता है।

वस्तुतः चरित्र-चित्रण उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व है और पात्र-योजना की दृष्टि से वर्माजी के उपन्यासो की समीक्षा करते समय श्री. शिवनारायण श्रीवास्तव ने अपने 'हिन्दी उपन्यास' नामक ग्रंथ मे कहा भी है "चरित्र चित्रण के विषय में वर्माजी को हमारे प्रमाण की आवश्यकता नही है। वे चरित्र सृष्टि के बड़े ही कुशल विधाता हैं, उनके चरित्र बहुत दिनो तक हमारी स्मृति मे जीवित रहते है, यही उनकी विशेषता है। बुदेलखड के उच्च और निम्न प्रायः सभी वर्ग के लोगों का अच्छा ज्ञान होने के कारण उनके चरित्रो मे कही भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। उन्हे किसानो की निराशा, युवको की प्रेमपिपासा, वीरो के रणोल्लास, कायरो की भीरुता आदि का समान रूप से ज्ञान है। परन्तु वर्माजी के औपन्यासिक चरित्रो की चित्रशाला में हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित होता

है उनकी नायिकाओं की ओर। उनके चित्रण मे लेखक को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। तारा, रतन, पूना, सरस्वती, कुमुद, मुन्दर, मृगनयनी, लाखी, गन्ना बेगम एक से एक बढ़कर चित्र है। इन सबमे सौन्दर्य, कोमलता, भावुकता के साथ ही साथ असीम साहस, शक्ति, त्याग और बलिदान है। इन्ही गुणो का उचित अनुपात मे मिश्रण उनके आकर्षण का रहस्य है। सबसे बडी बात जो हमे उनकी ओर आकर्षित करती है वह उनकी भावनाओं को दमन करने की शक्ति। प्रच्छन्न रागों और मनोवेगो के प्रदर्शन मे वर्माजी बड़े कुशल है। हृदय में अपरिमेय प्यार लेकर भी उनकी नायिकाएँ उनका आभास नही मिलने देती। दरिद्र की निधि की भाँति उसे अपने हृदय के अंतरतम कोने मे छिपाकर रखती है, मानों किसी के देख लेने से उसमे नजर लग जायगी। इस प्रयत्न मे यदि उन्हे आत्मबलिदान भी करना पड़े तो उन्हे सहर्ष स्वीकार है। ऐसे ही किसी स्थान पर ध्यान से देखने पर, उनके प्यार का स्वल्प आभास मिल जाय तो मिल जाय, अन्यथा नही। पुस्तक के अन्त मे ही हम उसे (प्यार को) पहचान पाते है और तब वह अपने अप्रत्याशित रूप, तीव्रता, आत्मत्याग एवम् बलिदान द्वारा हमे अभिभूत कर लेता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो वे इस पृथ्वीतल को छोड़कर ऊपर उठ गई है और वायु में तैर रही है। हमारे स्पर्श मात्र से उसमे धब्बा लग जायगा; इतनी शुभ्र, उज्वल एवं पवित्र है वे। वर्माजी की सभी नायिकाएँ अनुपम है परन्तु 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद उनकी चरित्र सृष्टि का उत्कृष्टतम उदाहरण है। पुस्तक के अन्त में हम स्वयं सोचने लगते हैं कि वह देवी थी या मानवी ? . . .

यही नही; विराटा की पद्मिनी, गढकुंडार, झाँसी की रानी, मृगनयनी आदि उपन्यासो मे जितने चित्र है, सब सुन्दर है। कुंजरसिह, राजा नायकसिंह, देवीसिंह, जनार्दन शर्मा, छोटी रानी, बड़ी रानी, गोमती, सोहनपाल, सहजेन्द्र, दिवाकर, धीर प्रधान, तारा, मानवती, झाँसी की रानी, मृगनयनी, लाखी, मानसिंह, अटल, बैजू बावरा, गन्नी बेगम आदि सबके चित्र एक से एक बढ़कर हैं। इन ऐतिहासिक कृतियों मे चरित्र का जमघट सा हो गया है, फिर भी वर्माजी सबको अलग-अलग रखने मे समर्थ हुए है; सबका अपना-अपना व्यक्तित्त्व है। कथोपकथन सुनकर ही हम कह सकते हैं कि यह अमुक पात्र है और यह अमुक। यही चरित्र चित्रण की उत्तमता है।"

हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि पात्र-योजना व चरित्र-चित्रण मे ऐतिहासिक उपन्यासकार को पर्याप्त सतर्कता रखनी पड़ती है अतः ऐतिहासिक उपन्यासो मे चरित्र-चित्रण की कुछ निर्बलताएँ स्वाभाविक ही देख पडती हैं और डॉ. रणवीर रांग्रा ने तो स्पष्टतया कहा है "वर्माजी का औपन्यासिक चरित्र-चित्रण सही ढंग का रहा है, जिसमे पात्रों का केवल व्यक्त—और

वह भी सार्वजनिक, पारिवारिक नही—जीवन ही चित्रित हुआ, न कि अंतरंग (सब्जेक्टिव) व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक। इसीलिए वह अपने पात्रो की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अचेतन या अवचेतन कारणो को नही पकड़ पाए। उदाहरणार्थ, वर्माजी के झाँसी की रानी और अज्ञेय के शेखर:एक जीवनी को ले। दोनो उपन्यासो में लेखक का उद्देश्य एक-सा रहा है—पात्रो के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना। वर्माजी 'झाँसी की रानी' उपन्यास के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहते है कि 'रानी का शौर्य विवशता की परिस्थितियो मे उत्पन्न नही हुआ था' अर्थात् वह जन्मजात था जो धीरे-धीरे विकसित होता गया। 'शेखर:एक जीवनी' मे अज्ञेय भी 'मानवता के सचित अनुभव के प्रकाश मे जीवन की कार्यकारण की परम्परा के सूत्र सुलझाने मे प्रवृत्त हुए हैं। दोनो उपन्यासो में रचयिताओ के उद्देश्य मे साम्य होते हुए भी उनके दृष्टिकोण के अंतर के कारण पात्रो के चरित्र-चित्रण मे बहुत बडा अन्तर है। वर्माजी सतह के ऊपर ही ऊपर रह जाते है और अज्ञेय उससे नीचे ही नीचे।" इस प्रकार मानसिक ऊहापोह या अंतर्द्वन्द्व के अभाव के कारण विचारक वर्माजी की चरित्र-चित्रण की पद्धति को उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासकार के ही अधिक समीप मानते हे और उनकी दृष्टि मे वर्माजी की पात्र योजना और चरित्र चित्रण पद्धति को पूर्णत· सराहनीय नही कहा जा सकता पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो श्री. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो की पात्र योजना मे कलात्मकता निर्विवाद रूप से है तथा उनके चरित्र चित्रण को केवल अतर्द्वन्द्व की न्यूनता मे त्रुटिपूर्ण बतलाना युक्तिसगत नही जान पडता। यहाँ इस कथन की पुष्टि हेतु कुछ उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा।

वस्तुत: औपन्यासिक पात्र-योजना मे नाटकीयता का गुण आवश्यक माना जाता है[3] और समीक्षक यही कहते है कि "वर्माजी के औपन्यासिक चरित्र चित्रण की शैली प्रधानतया नाटकीय है और कथोपकथन है उनके प्राण" अत. वर्माजी के पात्रो के चरित्रोद्घाटन मे उनके कथोपकथनो का मुख्य योग रहा है तथा यह विशेषता प्राय: उनके सभी उपन्यासो मे विद्यमान है। उदाहरणार्थ, अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'झाँसी की रानी' मे वर्माजी ने झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के चरित्र विकास को—उसके आंतरिक शौर्य के उत्तरोत्तर निखार की विविध अवस्थाओं को—मुख्यत अन्य पात्रो से हुए उसके संवादो के माध्यम से ही स्पष्ट

---

३. "Don't let your characters casually wander on the scene; carefully motivate and prepare each entrance, by these means dramatic intensity can be achieved."
—The Technique of Novel Writings : Hogarth; P. 99.

स्वतंत्रता संग्राम मे झाँसी छूट जाने और जंगलो की खाक छानने पर भी रानी मे आजादी की उमंग कम न होकर बढ़ती ही जा रही तथा अपनी प्यारी जन्मभूमि भारत को विदेशियो के पजो से मुक्त कराके स्वराज्य-स्थापना के हेतु वह कितनी आतुर थी, इसका परिचय हमे वावा गंगादास से हुए उसके वार्तालाप से मिलता है।

रानी–इस देश को स्वराज्य कैसे प्राप्त होगा ?

वावा–इस प्रश्न का उत्तर तो राजा लोग दे सकते है ?

रानी--नही दे सकते, तभी आपसे पूछने आई हूँ।

वावा–जैसे प्राप्त होता आया है, वैसे ही होगा।

रानी–कैसे वावाजी ?

वावा–सेवा, तपस्या, वलिदान से।

रानी–हम लोग कैसे स्वराज्य स्थापित कर पायेगे ?

वावा–गड्ढे कैसे भर जाते है ? नीद कैसे पूरी हो जाती है ? एक पत्थर गिरता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा और चौथा इसी प्रकार। और तब उसके ऊपर भवन खड़ा होता है। नीव के पत्थर भवन को नही देख पाते। परन्तु भवन खड़ा होता है, उन्ही के भरोसे–जो नीव मे गडे हुए है। गड्ढा या नीव एक पत्थर से नही भरी जाती। और, न एक दिन मे–अनवरत प्रयत्न, निरंतर वलिदान आवश्यक है।

रानी–हम लोगो के जीवन काल मे स्वराज्य स्थापित हो जायगा ?

वावा–यह मोह क्यो ? तुमने आरम्भ किए हुए कार्य को आगे वढ़ा दिया है। अन्य लोग आयेगे। वे उसको वढाते जाएँगे। अभी कसर है।"

इसी प्रकार संवादो के माध्यम से हमे झाँसी की रानी के सुशासन की झलक भी दीख पड़ती है और पीर अली से हुए कुछ पठानो के इस वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि रानी के राज्य मे हिन्दू-मुसलमान दोनो ही प्रसन्न थे तथा दोनो ही उस पर प्राण न्यौछावर करने को तत्पर रहते थे–

पीर अली को कुछ पठान मिले। उसने पूछा, तुम्हारा कौन मुल्क है खान?

झाँसी हमारा मुल्क है वावा, तुम्हारा मुल्क ?

मैं झाँसी का ही रहनेवाला हूँ।

तव हम तुम भाई भाई है वावा।

वाई साहव का राज्य है खान।

वेशक है। और हमारा तुम्हारा . . . .

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वर्माजी ने पात्रों के वार्तालाप के मध्य व्यक्त होने वाले उनके--पात्रों के--हाव-भाव का भी चित्रण किया है, जैसे—

"मानसिंह उसके निकट आने को हुआ। मृगनयनी और अधिक मुस्कराई।

और निकट आये तो मैं बहुत छोटी रह जाऊँगी।

मानसिंह स्थिर हो गया।

तुम संयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मैं अपने विकार से उसको चंचल कर देता हूँ। संयम के आधार वाला प्रेम ही आगे भी टिके रहने की समतार्थ रखता है।

मृगनयनी ने गर्दन टेढ़ी की, उंगली ठोड़ी पर फेरी और मुस्कान को बिखेरा।"

पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण में वर्माजी का ध्यान चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर भी गया है और उनके उपन्यासों में चाहे वे ऐतिहासिक हों या सामाजिक, चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर उनकी प्रवृत्तियों को उभारा गया है। वस्तुतः इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के फलस्वरूप पात्रों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म आंतरिक प्रवृत्तियाँ झलक उठती हैं और हमें उनके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा निर्धारित करने में कोई उलझन नहीं होती तथा इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण ही पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व या आंतरिक संघर्ष भी मुखरित हो उठता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से उनके कचनार, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, अचल मेरा कोई और प्रेम की भेंट आदि उपन्यास विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं।

कचनार में दलीपसिंह का चरित्र मनोविज्ञान के सहयोग से ही प्रस्फुटित हो सका है और वर्माजी ने कलावती एवम् मानसिंह की हृद्गत भावनाओं का भी सम्यक् निरूपण किया है। इसी प्रकार 'मृगनयनी' की नायिका एवम् प्रधान पात्री मृगनयनी का चरित्र कई स्थलों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा गया है। हमें लाखी और निन्नी की पारस्परिक अठखेलियों एवम् वार्तालाप आदि में दो समवयस्क युवतियों की अल्हड़तापूर्ण बातचीत का स्पष्ट आभास मिलता है तथा इसके लिये भी मनोवैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार पिल्ली के चरित्र को अंकित करने में भी मनोविज्ञान का पर्याप्त सहयोग रहा है और उसके प्रारम्भ से अन्त तक के कार्यों के पीछे मनोविज्ञान की ही भूमिका है तथा मानसिंह का चरित्र भी मनोवैज्ञानिक आधार लेकर ही कई स्थलों पर प्रस्तुत किया गया है।

वर्माजी की 'विराटा की पद्मिनी' में राजा नायकसिंह का चरित्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक निखरा हुआ है और वह जितना अधिक विलासी है उतना ही

अधिक वीर है। उसमे उदारता और सनकीपन का भी कुछ विचित्र सा संयोग है। इस प्रकार कुमुद का नाम सुनकर ही राजा नायकसिंह की कामुकता जाग्रत हो उठती है और वह आज्ञा देते है 'उसे हमारे डेरे पर भिजवा दो लोचनसिंह, हम उसकी रक्षा करेगे।' लोचनसिंह जानता था कि राजा रोगी है। उन्हे वर्जित करता हुआ कहता है--'हकीमजी से महाराज पूँछ ले कि महाराज को ऐसी बातो की ओर ध्यान नही देना चाहिये।' राजा भभक उठते है। तुरन्त आज्ञा देते है--'मेरी दो आज्ञाएँ है।' जनार्दन शर्मा पूछता है। राजा उत्तर देते है--'एक तो यह कि जो मुसलमान सेना यहाँ आई है उसे किसी प्रकार यहाँ से हटा दो।' दूसरी यह कि लोचनसिंह को इसी समय मरवाकर झील मे फिकवा दो।' लोचनसिंह राजा का स्वभाव जानता था। उसने राजा के सामने तलवार रख दी। राजा का क्रोध शान्त हो गया।

वस्तुत: 'अचल मेरा कोई' तो पूर्णत: मनोवैज्ञानिक आधारभूमि पर ही निर्भर है और इस उपन्यास मे अचल, कुन्ती व सुधाकर के चरित्र मनोवैज्ञानिक आधारो पर ही स्थित हैं तथा इनके चरित्र द्वारा युवक-युवतियो के मन मे उठनेवाले विविध प्रकार के भावो का विश्लेषण किया गया है। हम देखते हैं कि कुन्ती अचल के प्रति एक विशिष्ट धारणा रखती है पर अचल उसे प्रेम समझता है और कुन्ती के हृदय मे भी उसके प्रति अनुराग होते हुए उसका विवाह सुधाकर के साथ हो जाता है लेकिन वह अचल के प्रति अपनी धारणा पूर्ववत ही रखती है। सुधाकर कुन्ती पर सदेह करता है और प्रारम्भ मे भले ही दोनो का वैवाहिक जीवन कुछ सुखी रहा हो पर बाद मे गृह कलह उत्तरोत्तर इतना बढ़ जाता है कि कुन्ती आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार इन पात्रो के पारस्परिक सम्बन्धो की अत्यन्त सुन्दर मनोवैज्ञानिक विवेचना की गयी है और उनसे उपन्यासकार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का परिचय भी मिलता है। कुन्ती के सम्बन्ध मे अचल के निम्नलिखित उद्‌गारो मे मनोविज्ञान और भावना का सुन्दर सामंजस्य है, देखिए--'साध साध कर और संभाल संभाल कर प्रेम करता रहूँगा। हृदय की गिनी-गिनाई गतियो को, राई रत्ती तौले हुये वासना प्रसूनो को, रेशम की पोटली मे गाँठ लगाकर बाँधे हुए कामना परिमल को, और मुट्ठी मे कैद की हुई लालसा सुगधि को थोडा थोडा करके कुन्ती पर न्योछावर करता रहूँगा।' इसी प्रकार एक स्थान पर जब निशा अचल से पूँछती है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे थोडे दिनो पश्चात बहुधा दरार पड़ जाने का क्या कारण है, तब वह कहता है 'देह की माँग को पूरा करने के लिए आरम्भ मे प्यार दुलार की झडी लगा दी। फिर हुआ कुपच। या देह की माँग का आरम्भ से ही निरोध कर उठे --विदेह प्रेम की उपासना मे जो भाग्य से कुछ कम समय है। बस गृह कलह छिड़ी। देह की माँगो का और उन माँगो के

निग्रह का समन्वय ही उस अनवन को असंभव वना सकता है। साथ ही एक दूसरे का विश्वास और रक्तगत कमजोरियों की परस्पर माफी के लिये सबल हृदय की शक्ति।'

वर्माजी का ध्यान अनुभाव चित्रण की ओर भी गया है और इन्ही अनुभावों के द्वारा पात्रों की हृदयगत भावनाओं का परिचय भी मिलता है। उदाहरणार्थ; 'गढ़कुंडार' मे हेमवती व नाग की भेट का यह अवतरण दर्शनीय है और हम देखते हैं कि उनके परस्पर आकर्षण का संकेत अनुभावो से ही मिल पाता है तथा अपने मुंह से वह एक शब्द भी नही कहते। देखिए—"आँगन में पहुँचने पर नाग धरती पर ही. लेट गया और तलवार की मूठ का सिराना वना लिया। हेमवती एक कटोरा पानी लाई और उसने कटोरा उसकी ओर वढ़ाया। नाग ने कटोरा लेने के लिए एक हाथ जमीन पर टेककर दूसरा हेमवती की ओर वढ़ाया। चंद्रमा उसके सिर के पीछे था, इसलिए उसका प्रकाश वगल मे खडे सहे चंद और सामने खड़ी हेमवती पर स्पष्ट पड़ रहा था। उसने एक क्षण अच्छी तरह हेमवती को देखने की इच्छा से आँखे उसकी ओर की; परन्तु मानो परवश दृष्टि दूसरी ओर हो गई। दूसरी वार उसने यह चेष्टा पानी पीने मे की। अवकी वार वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ। धीरे-धीरे देर तक पानी पिया और देर तक दृढ़तापूर्वक उसका अवलोकन करता रहा। वड़ी वड़ी आँखे, लम्वे लम्वे पलक, मृदुल तिरछी चितवन उसकी आँखो मे समा गई। हेमवती ने भी उसे अच्छी तरह देख लिया, और शर्म से आँखे नीची कर ली। उसने कटोरा लेने के लिए जरा व्यग्रता के साथ हाथ वढ़ाया। नाग की कलाई से हेमवती की कोमल उंगलियाँ छू गई।"

वस्तुतः वर्माजी के उपन्यासो मे पात्रो का द्वन्द्व ही उनके चरित्रों को उभारने में अत्यधिक सफल रहा है और हम देखते है कि वे—पात्र—न केवल वाह्य संघर्ष से ग्रसित होते है अपितु अन्तर्संघर्ष भी उन्हे वहुत अधिक व्यथित करता है। इस प्रकार वाह्य और अन्तर्संघर्ष के योग से पात्रो का चरित्र पाठको के समक्ष स्पष्ट हो जाता है और प्रसादजी की भाँति वर्माजी ने भी प्रसंगानुसार पात्रो के अन्तर्संघर्ष की झलक देकर चरित्रो को स्पष्ट किया है तथा उनके अधिकांश उपन्यासो मे पात्रो के इस अन्तर्संघर्ष के दर्शन होते है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर हम अपने कथन को पुष्ट करेंगे।

अपने सर्वप्रथम प्रकाशित उपन्यास 'गढ़कुंडार' मे ही वर्माजी ने आंतरिक संघर्ष की सफल संयोजना की है और हम देखते है कि हेमवती का प्यार पाने में असफल नाग के हृदय मे तीव्र सघर्ष होने लगता है तथा उसका यह अन्तर्संघर्ष व्यक्त करते हुए लेखक कहता है "नाग की वह रात वड़ी कठिनाई से कटी। एक ओर सामन्त नाग, दूसरी ओर आहत वर्ग नाग। एक ओर मनुष्य नाग, दूसरी

ओर दर्पयुक्त नाग। एक ओर राजकुमार नाग, और दूसरी ओर प्रणयोन्मत्त नाग। एक ओर वीर नाग, दूसरी ओर उद्धत नाग। एक ओर नागदेव और दूसरी ओर नाग राक्षस। देवता पर राक्षस विजय पा चुका था और खंगारो का सूर्य अस्ताचल की ओर जा चुका था।" इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद के हृदय का द्वन्द्व अधिकाश स्थलो पर उभर उठा है और 'कचनार' व 'मृगनयनी' मे भी अन्तर्द्वन्द्व के कई सुन्दर चित्र दीख पडते है। 'मृगनयनी' उपन्यास का नायक मानसिह राजा है और शक्ति-सम्पन्न है पर गृहकलह मिटाने में वह असफल रहता है और उद्विग्न हो उठता है। उसकी इस उद्विग्नता का चित्रण करते हुए लेखक कहता है "उसका अभिमान कहता था--इतने बडे राज्य की व्यवस्था करनेवाला क्या आठ स्त्रियो का भी शासन नही कर सकेगा ? उसके विवेक ने बतलाया--एक स्त्री का शासन ही पुरुष के लिये कठिन काम है, आठ तो आठ ग्वालियर राज्यो की समस्या के समान है। फिर क्या करूँ ? करूँ क्या, विनयशील और मृदुलता से काम लो, व्यंग्य, गाली और कटूक्तियाँ सब हँसी के साथ सहो, इसी मे कल्याण है। मानसिह ने सोचा।" इसी प्रकार विवाह होने पर मृगनयनी जब ग्वालियर के राजभवन पहुँचती है तब उसकी मानसिक दशा का वर्णन करते हुए लेखक कहता है--

"मृगनयनी भवन के भीतर पहुँची। दास-दासियो की मनुहारे पर मनुहारे बरस उठी। अरे, तो क्या मै थोडी देर के लिये अकेली न रह पाऊँगी ?

नेगचार के बाद पान, इलायची, इत्र आदि सत्कार की सामग्री, नाना प्रकार के भोजन, सिर झुकाये दासियाँ, स्वच्छ वायु के लिये भवन मे खिडकियाँ। बैठने के लिये कालीन, मसनद, तकिए, लेटने के लिये मखमली गद्दे का, चाँदी की पत्तियो जड़ा पलग।

वह मचान, वह चाँदनी रात जिसमे लहराते हुए अनाज का खेत जैसे किसी ललक के साथ बात करना चाहता हो, साँभर, चीतल की बोलियाँ, बगल मे रखा हुआ धनुष बाण, लाखी की ठठोली, क्या सब सदा के लिये हाथ से छुटक गये ? क्या मै जा नही सकूँगी ? क्या यही बन्द होकर रहना पडेगा ? . . . निन्नी ने झरोखे के बाहर दृष्टि डाली। मन चाहा कि उठे और झाँक कर देखे। ये लोग क्या कहेगी ? मन मे कहेगी गाँव की गँवार है। ये सब पढी-लिखी है। मै अपढ हूँ। मै कुछ गा लेती हूँ पर इन सबने बरसो का अभ्यास किया होगा। जब रात मे, सबेरे और सध्या समय चिड़ियाँ बोलेगी और मै गाना चाहूँगी तो क्या कोई रोक लेगी ? नही भी रोकेगी तो मन में क्या कहेगी ? इन सबसे अच्छा गा सकूँगी तब कुछ नही कह सकेगी। और यह निशानेबाजी कैसी करती होगी ? इसमे तो सबको पछाड़ दूँगी। महाराज को भी, अपने पति को? वह पति है परन्तु

लक्ष्यवेध तो किया है इसमें हार-जीत की क्या बात ? . . . मैं जब अपने गाँव में फिर आऊँगी तब पढ़ लिखकर यह सब सीखकर जाऊँगी। लाखी को भी सिखलाऊँगी। कहूँगी भौजी ! सीख मुझसे। क्या कर रही होगी इस समय मेरी प्यारी लाखी ? कितना रोई थी वह ? मैंने कभी-कभी उसके साथ ओछा व्यवहार किया है। अब कभी नहीं करूँगी। मृगनयनी की आँखों में एक आँसू आ गया। दासियों ने नीची निगाहों ही देख लिया। सोचा देर तक देखते रहने के कारण आँखें गीली हो गई होंगी।"

उक्त वातावरण में मृगनयनी की मन:स्थिति का भलीभाँति चित्रण किया गया है और इस प्रकार के चित्र प्रेम की भेंट, झाँसी की रानी, लगन आदि उपन्यासों में भी हैं। साथ ही पात्रों की प्रतिक्रिया का समुचित चित्रण करने के लिए देशकाल व परिस्थिति का विस्तृत चित्रण भी अपेक्षित होता है और ऐतिहासिक उपन्यासों में तो इसे अनिवार्य समझा जाता है पर विचारक कहते हैं कि 'वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यासों में स्थित्यंकन व्यापक चित्रपट पर नहीं करते। उनके 'स्थित्यंकन के केमरा' का 'फोकस' पात्रों के अत्यंत निकटवर्ती परिवेश तक, उनके आसपास के तंग घेरे तक ही, सीमित रहता है। इसलिए वर्माजी तत्कालीन जनजीवन के अंतर में प्रवेश नहीं कर पाते, उनकी दौड़ राजमहलों, दरबारों और राजरानियों तक ही सीमित रहती है।"

हम इस कथन से सहमत नहीं हैं क्योंकि 'मृगनयनी' व 'सोना' आदि कुछ उपन्यासों में वर्माजी ने पात्रों का चरित्रचित्रण व्यापक पृष्ठभूमि पर करते हुए प्रमुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन के साथ तत्कालीन जनजीवन का भी परिचय देने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ 'मृगनयनी' में जब राजा मानसिंह रात को वेश बदलकर प्रजा का हाल देखने जाता है और एक मजदूर के घर का द्वार खट-खटाता है तब उपन्यासकार स्थित्यंकन इस प्रकार आरंभ करता है—'भीतरवाले ने कांखते-कूलते उठकर टटिया खोल दी। बाहर वाला भीतर आ गया। उसके लम्बे तड़ंगे शरीर और भारी भरकम ग्राने को देखकर भीतर वाला डर गया। लम्बे तड़ंगे ने टटिया के पास जूते खोल दिये और आग के पास आ बैठा। उसने झोंपड़ी में नजर पसारी। एक कोने में चकिया, इधर उधर मिट्टी और काठ के बर्तन, पीतल की एक थाली, एक लोटा और कुछ नहीं।' अपनी ओर से इतना लिखने के पश्चात उपन्यासकार ने शेष वर्णन पात्रों पर ही छोड़ दिया है और हम उस मजदूर परिवार की शोचनीय अवस्था का परिचय उन दोनों पात्रों के वार्तालाप के द्वारा ही जान पाते हैं—

'मजदूर गिड़गिड़ाकर बोला, दाऊ, मेरी गांठ में कुछ नहीं है। गरीब हूँ। किसी बड़े घर को ताक लो।

डरो मत । मैं चोर-उचक्का नही हूँ ।
कौन हो ? कहाँ से आये हो ?
राई नागदा गाँव से आया हूँ ।
नागदा तो उजड़ गया है । राई मे क्या करते हो ?
मजदूरी किसौनी । गूजर हूँ ।
गूजर ठाकुर तो हमारी रानी भी है । उन्ही के पास जा रहे हो क्या ?
नौकरी ढूंढने आया हूँ । रास्ता भूल गया हूँ । किले मे कैसे जाऊँ ।
बतलाये देता हूँ । चलो बाहर, वही से दिखलाये देता हूँ ।
कुछ खाने को है ?

अभी तो कुछ नही है । हमारे लिए ही नही है । इससे कहा कि पीस दे, सो यह बहुत बीमार है । मै पीस नही पाऊँगा, क्योकि बहुत भूखा हूँ ।"

इस प्रकार वर्माजी कथोपकथन द्वारा न केवल पात्रो के चरित्र को उद्घाटित करते है अपितु कई बार स्थित्यंकन भी पात्रो के वार्तालाप के माध्यम से ही करा देते है । यहाँ यह स्मरणीय है कि पात्रो की आकृति का वर्णन चरित्रो को उभारने मे बहुत अधिक योग देता है और वर्माजी निर्विवाद रूप से इस कला मे बहुत पटु है तथा अपने प्रत्येक उपन्यास मे उन्होने पात्रो का चरित्र-चित्रण करते समय उनकी आकृति एवम् वेशभूषा का विस्तृत वर्णन किया है । उदाहरणार्थ; 'गढकुंडार' का यह अश दर्शनीय है—"एक सवार की आयु सत्रह या अठारह वर्ष से अधिक न होगी । प्रशस्त ललाट, कुछ लम्बाई लिये गोल चेहरा, आँखे कुछ बड़ी और बादाम के आकार की हल्की काली, नाक सीधी और होठ लाल, ठोढी आधार मे एक हल्के से गढेवाली और जरा सी आगे को झुकी हुई और उन पर कही कही रेत के कण । भौहे पतली, लम्बी और खिची हुई और पलके दीर्घ । सीना चौडा और कमर बहुत पतली, बाहु लम्बे और हाथ की उँगली पतली । मूगिया रंग के कपडे पहने हुए, छोटी सी ढाल और तरकस पीठ पर, कमर मे तलवार और कंधे पर कमान । भाल पर लगा रोरी का तिलक किसी समय हाथ पड़ जाने से पुछ गया था और माथे पर तिलक लकीर के आकार मे बन गया था । इस आरक्त वक्र रेखा ने मुख के हल्के गेहुँए रंग को और भी तेजोमय बना दिया था ।"

कही कही सक्षेप मे ही वर्माजी ने पात्रो का आकृति वर्णन किया है और हम देखते है कि 'मृगनयनी' मे निन्नी व लाखी के सम्बन्ध मे उनका यह संक्षिप्त कथन ही दोनो नारी पात्रो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी प्रस्तुत करता है; देखिए—"वे दोनों समवयस्क थी, आयु लगभग पन्द्रह सोलह वर्ष परन्तु निन्नी बलिष्ट और पुष्ट काया की, लाखी दुबली और छरेरी ।" इसी प्रकार 'लगन' मे रामा का

सौन्दर्य चित्र अंकित करते हुए उपन्यासकार कहता है "वही छरेरा शरीर—गोल जरा लम्बा मुख ! सोने का रंग। साँचे में ढला हुआ सिर। उन्नत सुडौल माथा। पद्म जैसा हाथ। सीधी नासिका। पतले लालिमामय अधर पल्लव और ठोड़ी के बीच में बहुत छोटा-सा गढ्ढा। आँखे बड़ी बड़ी और स्निग्ध। बरौनियाँ लम्बी और भौहे धनुष जैसी।"

वर्माजी के उपन्यासों मे पात्रों के कार्यव्यापारो द्वारा भी चरित्रो को बहुत बड़ी सीमा तक उभारा गया है और हम देखते है कि पात्रों का निजी आचरण ही पर्याप्त सीमा तक उनके चरित्रों को उभारने मे समर्थ हुआ है। वास्तव में ये ही वे साधन हैं जिनके द्वारा कुशल उपन्यासकार अपने औपन्यासिक पात्रों का चित्रण करते हैं और वर्माजी ने इन साधनो का अत्यंत सफलतापूर्वक उपयोग किया है। उदाहरणार्थ, गढ़कुंडार में तारा को साँप काट लेता है, सब लोग खड़े है पर घाव को चूसने का साहस किसी को भी नही होता। दिवाकर आगे बढ़ कर तारा का घाव चूसता है। अतः इस कार्य से जहाँ कि एक ओर उसके साहस का परिचय मिलता है वहाँ तारा के प्रति उसका प्रेम भी झलक उठता है। इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' मे कुमुद और कुंजरसिंह के प्रेम सम्बंधो मे भी ऐसे अनेक अवसर उपस्थित होते हैं तथा वर्माजी के अन्य उपन्यासों मे भी इस प्रकार के कई उदाहरण है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वर्माजी के औपन्यासिक पात्रो मे सर्वाधिक आकर्षक चरित्र नारी पात्रों का ही है और समीक्षक तो इस सम्बन्ध मे यही कहते हैं "वर्माजी के उपन्यासों की नायिकाएँ इतनी प्रभावशाली होती है कि उनके सम्मुख अन्य सारे चरित्र मद्धिम पड़ जाते हैं। इसका कारण और कुछ नहीं केवल यही है कि वर्माजी ने अपनी कथाओ के लिये जो भी विषय चुना है वह इसी प्रकार की रमणियो के उपयुक्त है। उनके चरित्रो के चित्रण मे वर्माजी को विशेष सफलता मिली है वह भी इसलिये कि उन्हे प्रेम और वीरता से भरी गाथाओ के इन संघर्षशील स्त्री पात्रो से एक विशेष सहानुभूति रही है। उनकी यह सहानुभूति भी स्थान स्थान पर व्यक्त हुई है।...हम उनके अधिकाश उपन्यासों में नायिकाओ को अपूर्व ज्योति से उज्जवल पायेगे। नायिकाएँ तो उज्वल रहती ही है उनके सम्पर्क से अन्य स्त्री पात्रों म भी एक अकथनीय आभा देख पड़ने लगती है।" यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वर्माजी के नारी पात्र तलवार की धार और बन्दूको की गोलियो के मध्य भी मुस्कराते है तथा उनके हृदय मे प्रेम की धारा प्रवाहित होते हुए भी उच्छृंखलता के कही भी दर्शन नहीं होते। सच तो यह है कि उनमे अतृप्ति न होकर एक विराट गति होती है और वह अपने उच्च आदर्शो से कभी भी च्युत नहीं होती।

अपने उपन्यासो में कही कही वर्माजी ने चरित्रो का तुलनात्मक विश्लेषण भी किया है और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार के उदाहरणो का विशेष महत्व माना जाता है। उदाहरणार्थ, 'कचनार' का यह अवतरण दर्शनीय है जिससे कलावती और कचनार दोनो की चारित्रिक एवम् स्वभावगत विशेषताओं का अनुमान हो जाता है–"दुलैया जू का स्वर सारगी सा मीठा है, कचनार का कंठ मीठा होते हुए भी चिनौती सा देता हुआ। दुलैया जू कमल है, कचनार कटीला गुलाब। जिस समय दुलैया जू को हल्दी लगाई गई मुखडा सूरजमुखी सा लगता था। उनकी आँखो मे मद था, कचनार की आँखे ओले सी सफेद और ठंडी! उनकी मुसकान मे ओठो पर चाँदनी सी खिल जाती है, कचनार की मुसकान मे ओठ व्यग्य सा पैदा करते है। दुलैया जू की एक गति, एक मरोड न जाने कितनी गुदगुदी पैदा कर देती है। कचनार जब चलती है, ऐसा जान पड़ता है किसी मठ की योगिन है। बाल दोनो के विलकुल काले और रेशम जैसे चिकने है, दोनो से कनक की किरणे फूटती है। दोनो के शरीर मे सम्मोहन जादू भरा सा है; दोनो बहुत सलोनी है। दुलैया जू को देखते और बाते करते कभी जी नही अघाता। अत्यंत सलोनी है। घूंघट उघाडते ही ऐसा लगता है जैसे केसर बिखेर दी हो। कचनार को देखने पर ऐसा जान पड़ता है जैसे चौक पूर दिया हो।"

कुछ समीक्षक वर्माजी के औपन्यासिक पात्रो को आदर्श और खल या दुष्ट नायक दो वर्गो मे विभाजित करते है पर इस प्रकार का विभाजन तो किसी भी उपन्यास के पात्रो का किया जा सकता है क्योकि सबमे दो प्रकार के पात्र होते है। एक, जो उपन्यासकार की विचारधाराओ व मान्यताओं के अनुकूल होने के कारण उसकी सहानुभूति के पात्र होते है और दूसरे वे जो उक्त पात्रो के सर्वथा विरुद्ध रहकर उनके समक्ष बाधाओ के रूप मे उपस्थित होकर उनकी जड़ खोदने मे ही सक्रिय रहते है। इस कोटि के पात्रो के प्रति उपन्यासकार की सहानुभूति न होने से उन्हे अपने किये का फल भी सहना पडता है। यदि किसी भी कृति मे विरोधी विचारधाराओ, आदर्शों एवम् भावनाओ वाले पात्र न हो तो फिर कथा मे गति का रहना असभव ही है अतएव प्रत्येक कुशल उपन्यासकार इन दोनो प्रकार के पात्रों को साथ-साथ रखकर अपने ध्येय की पूर्ति करता है। इस प्रकार उपन्यासकार उपन्यास रचना के समय अपने मस्तिष्क में कतिपय धारणाएँ और पात्रो के सम्बध मे कतिपय निष्कर्ष रखकर उनके अनुसार चरित्रों का चित्रण करता है तथा आदर्श एवम् खल या दुष्ट पात्रो की योजना का भी मूलतः यही कारण होता है। वर्माजी के उपन्यासो मे भी यही बात दीख पड़ती है और पात्र योजना मे मूलतः उनकी विचारधारा ही प्रेरक रही है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्माजी के उपन्यासों में घटनाओ की प्रधानता होते हुए भी चरित्र-चित्रण का अत्यंत निखरा हुआ रूप दीख पड़ता है और अनेक ऐसे पात्रो की सृष्टि हुई है जो सर्वदा अमर रहेगे। भले ही कुछ रूढिग्रस्त आलोचक उनके चरित्र-चित्रण को अपूर्ण, असंभावित और निरा त्रुटिपूर्ण ही कहे पर इस प्रकार के आरोप युक्तिसगत नही है।

एक विचारक के कथनानुसार "पात्रो के चरित्र-चित्रण मे कथोपकथन का अपना विशेष स्थान होता है। अँग्रेजी मे इसे डायलाग (Dialogue) कहते हैं यह वह बातचीत नही जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से करता है। उपन्यास की सफलता के लिए कथोपकथन की सजीवता और सार्थकता ध्यान मे रखी जानी चाहिये। प्रत्येक कथोपकथन सरल हो, मार्मिक हो तथा पात्रो की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल हो, साथ ही देश और काल का ध्यान रखा जावे। कथोपकथन की आयोजना उपन्यासकार की प्रतिभा की सूचक है, उसकी अनुभूतियो की परिचायक है। कथोपकथन प्रभावशाली और नाटकीय होना चाहिए जिसका पाठको पर अद्भुत प्रभाव पडेगा। कथोपकथन शृखलाबद्ध तथा हृदय के नैसर्गिक उद्गार हो जिनमे तनिक-सा भी कृत्रिम आवरण न हो। पात्रो के भावो, मनोनुकूल प्रवृत्तियो तथा मनोवेगो का सच्चा सफल निदर्शन उपन्यासो के क्षेत्र मे संभव है। घटनाओ के उत्थान-पतन के साथ कथोपकथन की योजना होनी चाहिये। यह वह सूत्र है जिसके द्वारा पात्रो का व्यक्तित्व साकार हो उठता है और पाठको के लिये मूल्याकन करना सरल हो जाता है।" इस प्रकार औपन्यासिक तत्त्वो मे कथोपकथन या सवाद का विशिष्ट स्थान है और कथोपकथन को वर्माजी के उपन्यासो का प्राण-तत्त्व भी कहा जाता है। सच तो यह है कि कथोपकथन की सहायता से उन्होने न केवल घटनाओ को गति प्रदान करते हुए कथा-विकास की ओर ध्यान दिया है अपितु पात्रो के चरित्र-चित्रण और स्थिरयंकन मे भी कथोपकथन का अधिकाधिक उपयोग किया है। उदाहरणार्थ, गढकुडार का वह सक्षिप्त अवतरण दर्शनीय है जिसमे कथोपकथन द्वारा कथानक का स्वाभाविक विकास हुआ है—

"दिवाकर—दाऊजू, मेरा मरना-जीना आप सबके बराबर है, मैं अब यहाँ नही रहूँगा।

सोहनपाल—कहाँ जाओगे ?

दिवाकर—जहाँ इच्छा होगी।

सोहनपाल—क्या पागल हो गये हो ?

धीर—पागल नही, स्वामिद्रोही है।

सोहनपाल—मैंने तुमको क्षमा कर दिया है। जाओ अपने डेरे पर।

दिवाकर–मेरा अब यहाँ कोई नहीं।

धीर–महाराज उसको छुट्टी देना बुंदेलों का सर्वनाश करना है। वह कुंडार अवश्य जायेगा। कह चुका है।

सोहनपाल–क्यों दिवाकर ?

दिवाकर–अवश्य यहाँ से छूटते ही कुंडार जाऊँगा।

सोहनपाल–कुंडार मे तेरा कौन है ?

दिवाकर ने कोई उत्तर नहीं दिया। सोहनपाल बड़ी उलझन में फँसा।"

इसी प्रकार पात्रो की चारित्रिक विशिष्टताएँ भी कथोपकथन के माध्यम से ही मुख्यतया स्पष्ट की गई हैं और 'कंचनार' नामक उपन्यास मे कचनार–दलीपसिंह के मध्य होनेवाले इस वार्तालाप मे सजीवता के साथ-साथ दोनों ही पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करने की क्षमता भी है; देखिए—

"दलीपसिंह ने जैसे ही उसका हाथ पकड़े हुये मुस्कुराकर कहा–कहो क्या बात है ? जो माँगोगी दूंगा। मेरे पिता बहुमूल्य वस्त्रालंकारों का भंडार छोड़ गये हैं। जिसकी इच्छा करो, दूंगा और देता रहूँगा।

कचनार बोली–मुझको वस्त्रालंकार कुछ नहीं चाहिये। मैं गोंड कन्या हूँ। वृक्षों की छाल से अपना शरीर ढक सकती हूँ।

तब जो कुछ माँगोगी वही दूंगा—दलीपसिंह ने आश्वासन दिया।

कचनार थोड़ा मुस्कुराई। दलीपसिंह ने ऐसी मुस्कुराहट कभी नहीं देखी थी। प्रमत्त हो गया।

कचनार ने कहा–बदल न जाइएगा।

दलीपसिंह झूमकर बोला–कभी नहीं।

कचनार के नेत्रों मे तेज बढ़ा।

उसने कहा–मेरे साथ भाँवरें डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिये। अपनी जीवन सहचरी बनाइये। वचन दीजिये। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूंगी।

तुमने थोड़ी देर पहले अभी अभी कहा था कि दासी हूँ।

दासी तो हूँ ही। आपकी और तेरी की, अन्य सब की सेवा करूँगी, परन्तु मैं ऐसा अंगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतार कर फेंक दिया।

यदि मैं जबरदस्ती करूँ।

असंभव है। आप मुझको तुरन्त मरा हुआ पायेंगे।"

वस्तुतः कथोपकथनों का प्रधान गुण चरित्रो का उभारना ही है और यह गुण तो सभी उत्कृष्ट उपन्यासों में रहता है अतः वर्माजी के उपन्यासों में प्रयुक्त

कथोपकथनों में भी यह गुण विद्यमान रहा है। 'मृगनयनी' उपन्यास से यहाँ एक उदाहरण देकर हम अपने इस कथन की पुष्टि करना आवश्यक समझते हैं। 'मृगनयनी' का एक पात्र बैजू कलाकार है और कला की आराधना के अतिरिक्त उसे किसी अन्य वस्तु से तात्पर्य ही नहीं रहता। राजसिंह उसे और कला को ग्वालियर इसलिए भेजता है कि वे दोनों ग्वालियर की गुप्त बातों की सूचनाएँ उसे लाकर दें परन्तु बैजू ग्वालियर आते ही संगीत में इतना बेसुध हो जाता है कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि वह किस उद्देश्य को लेकर चन्देरी से चला था। इस प्रकार बैजू तो अपना उद्देश्य भूल गया था पर कला ग्वालियर के राजमहलों की समस्त गुप्त सूचनाएँ एकत्र कर लेती है और एकान्त में बैजू से मिलकर उसे उसके उद्देश्य की याद दिलाती है। निम्नलिखित वार्तालाप में जहाँ उपन्यासकार का उद्देश्य बैजू का चरित्रांकन रहा है, वहाँ कला और मानसिंह व राजसिंह की दुर्बलताएँ-सबलताएँ भी इस अवतरण में झलक उठती हैं। देखिए—

"अ हा हा ? ओ हो हो ! उसके मुँह से निकला और वह खिलखिलाकर हँस पड़ा।

आज बावलेपन की मात्रा कुछ अधिक है, कला ने विचार किया।

धकिट धकिट धा किट, अ हा हा—हा ! अ हा हा !! क्या बात है।

जयशंकर भगवान की ! जय नटराज की ! बैजू ने कहा और वीणा पर गाया—मोते खेलैं होरी, राजा मान खेलैं होरी, उसके बाद उसने पखावज ली और गुनगुनाते हुए बजाने लगा। पखावज को रखकर फिर वीणा को हाथ में लेने ही वाला था कि कला अकुलाहट के साथ बोली—गुरुजी अब समय आ रहा है।

उसने हर्ष मग्न होकर पूछा—आ रहा है नहीं, आ गया है, मूर्ख छोकरी—ध्रुव पद में होरी की गायकी की रूपरेखा बना ली और ताल भी तैयार हो गया। धमार ताल में गाई जानेवाली होरी। गति के बोल भी बना लिये हैं। पानी रुक जाय तो राजा को जाकर सुना दूँ अभी। पर उस रूपरेखा में रंग और भर दूँ, तब सही। हाँ यही ठीक है। ठीक रहेगा न कला ?

हाँ, महाराज, बहुत ठीक रहेगा ! मैं कुछ और कह रही थी।

फिर कभी कह लेना, मुझको अवकाश नहीं है अभी तो।

अभी ही सुनना पड़ेगा। बड़े महत्व की बात है।

ध्रुवपद और होरी से बढ़कर, फिर सीखा क्या तूने इतने दिनों में।

महाराज को स्मरण होगा। जब चन्देरी से हम लोग चले।

हाँ चन्देरी से चले थे और अब ग्वालियर में हैं। क्या मैं बच्चा हूँ जो इतनी सी बात न जानूँगा।

चन्देरी फिर लौटना होगा।

काहे के लिये ? चन्देरी के पत्थरो से सिर मारने के लिये।

चन्देरी से चलते समय राव राजसिंह ने कुछ कहा था ?

हाँ, कहा था कि ग्वालियर मेले मे सब गवैयो बजैयो को परास्त करना और चन्देरी का नाम रखना, सो हो गया अब ग्वालियर के नाम को बढाऊँगा।

उन्होने कुछ और भी कहा था।

क्या कहा था, बताओ। मै राव राजसिंह की बात को मान्यता देता आया हूँ।

उन्होंने बहुत कुछ कहा था, और यह भी कि ग्वालियर को जब कोई घेरने आवे तब उसके सैन्य बल आदि का सही पता बताकर तुरन्त चन्देरी लौट पडना और फिर बतलाना। किले के चित्र मैंने बना लिया है।

होंगे चित्र वित्र, क्या करेंगे राव राजसिंह यह सब जानकर।

ठीक समय पर चढ़ाई कर देंगे और अपनी बपौती को ले लेंगे।"

इसके पश्चात दूसरे ही परिच्छेद मे बैजू मानसिंह से सब कुछ कह देता दे पर यह जानकर कला पसीने-पसीने हो गई लेकिन मानसिंह कला से कहता हे–'तुमको रक्षको के साथ आराम की सवारी मे भेज दिया जायगा। तुमको इतना द्रव्य है दूँगा कि जीवन-पर्यन्त बेखटके रहो। राव राजसिंह बड़ा शूरवीर है। परन्तु शूरवीरो का उपयोग अनुचित करता है। कह देना।"

इस प्रकार के कथोपकथन निर्विवाद रूप से उपन्यासो मे सजीवता और सरसता की सृष्टि करने मे समर्थ रहते हैं तथा उपन्यासकार की उसके उद्देश्य पालन मे भी सहायता करते हे। वर्माजी के प्राय. सभी उपन्यासो मे इस प्रकार के कथोपकथनो का बाहुल्य है और वर्माजी की पात्र योजना व चरित्र चित्रण के सम्बध मे विचार व्यक्त करते समय हम इस प्रकार के कुछ उदाहरण दे चुके हैं अतः यहाँ पुनः इस सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना निरस पिष्टपेषण होगा। जहाँ तक वर्माजी के उपन्यासो मे प्रयुक्त कथोपकथनो के मूल्याकन का प्रश्न है हम निस्सकोच कह सकते है कि "वर्माजी के कथोपकथन प्रायः रोचक होते हैं। उन्हे पढने तथा समझने मे पाठक को विशेष श्रम अपेक्षित नही होता। उनका सीधा-सादा प्रवाह, पैनापन और नाटकीय तत्त्व ये सब मिलकर उसके हृदय पर प्रभाव डालने मे सफल होते है। सम्वाद वक्ता के विचार एवं विषय के अनुसार दीर्घ अथवा सक्षिप्त होते हैं। जहाँ वह किसी समस्या पर विचार प्रकट करता हे कोई विश्लेषण अथवा विवेचन प्रस्तुत करता हे, कथन बडे तथा वाक्य लम्बे हो जाते हैं। जहाँ तीखापन है, तीव्रता है, गति है वहाँ कथन अत्यत सक्षिप्त तथा वाक्य छोटे छोटे और पैने हैं। सम्वादो के साथ वक्ता के हाव-भाव का सूक्ष्म निरीक्षण भी चलता हे। इस सूक्ष्म विवरण के सहारे सम्वाद नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने

में सहज ही सफल हो जाते है।" इस कथन की पुष्टि हेतु यहाँ 'गढकुंडार' का निम्नलिखित अंश उद्धृत है—

"नागदेव प्रणय मे अपनी व्याकुलता का वर्णन करने के बाद उत्सुकतावश एकाएक अग्निदत्त से पूँछ उठता है—पाडे, तुमने क्या कभी इस भाव का, इस कोमल कष्ट का अनुभव किया है?

पाडे ने सिर नीचा किया। अंगड़ाई ली। जमुहाई ली। कहा—सो जाइए। रात बहुत हो गई। और साधारण हँसा।

नाग की उत्सुकता सहसा कुछ उत्तेजित हुई। बडे आग्रह के साथ अनुरोध किया—-पाडे, तुम्हे मेरी सौगन्ध है। सच बतलाओ, वह कौन सी सौभाग्यवती है, जो तुम्हारे सदृश तेजस्वी युवा के अक की प्रतीक्षा कर रही है? तुम्हारी जाति की ही होगी? तुम्हे तो कठिनाई नही होगी?

अग्निदत्त एकाएक गंभीर हो गया। होंठ काँपने से लगे। उसकी एक आँख अधमुदी-सी और दूसरी खुली हुई सी थी। गर्दन जरा टेढी हो गई और जिस हाथ के सहारे पलग पर बैठा था, वह कुछ कड़ा हो गया। उसने स्पष्ट परन्तु कंपित स्वर मे कहा—-यदि आप मेरे ऊपर कुछ भी स्नेह रखते हो तो जितना मै बतलाना चाहूँ उससे अधिक मत पूछियेगा, क्योंकि मैने उस समय तक पूरा ब्यौरा न बतलाने का निश्चय कर लिया है जब तक कि सफलता की पूरी आशा न हो जाय।

नाग ने टोक कर कहा—-तो आप कुछ भी न बतलाएँगे? और उसका मुँह उतर गया।

अग्निदत्त ने अपने भाव को कुछ नरम करके कहा—-अवश्य बतलाऊँगा परन्तु जहाँ जिस स्थान पर निषेध कर दूं, उससे आगे आप कुछ न पूछिएगा।

नाग के आँख से आँख मिलाने पर अग्निदत्त मुस्कुरा दिया।

नाग ने कहा—मै प्रण करता हूँ, बाबा, बतलाओ भी।

अग्निदत्त ने काँपते हुए हृदय को बल देने के लिये एक लम्बी साँस खीची और कहा—-पूछिए।

नाग ने एकाग्र मन और प्रोत्साहनमय ढंग से पूछा—क्या आयु है? कौन जाति की है।

अग्निदत्त ने जरा नीचे देखकर और मुस्कुराकर उत्तर दिया—-पन्द्रह-सोलह वर्ष से अधिक नही है।

कौन जाति की है।

अग्निदत्त ने दृढता के साथ कहा—-जाति नही बतलाऊँगा। परन्तु यह कह सकता हूँ कि वह मेरी जाति की नही है।

रग कैसा है?

अग्निदत्त ने बहुत लजाकर बिना आँख से आँख मिलाए, उत्तर दिया–बहुत खरा गोरा–जैसे तपा हुआ सोना। सारे शरीर से आभा झलकती है।

वह तुम्हें चाहती है ?

अग्निदत्त ने गला साफ करके मुस्करा कर कहा–हाँ।

तुम्हे कैसे मालूम है ?

अग्निदत्त बहुत खिलखिलाया। नाग ने अपने प्रश्न को दुहराया। पाडे और भी अधिक हँसा। फिर दबी जबान से कहा––उसने एक बार कहा था तुम्हे नही देखती हूँ तो बेचैन हो जाती हूँ।

नाग का मुख किसी गुप्त हर्ष के कारण खिल उठा। बोला–क्रूर सौन्दर्य, दुष्ट हृदय। किस बेचारी को इतना सताया करता है? उसका नाम क्या है?

नाम नही बतलाऊँगा। अग्निदत्त ने उत्तर दिया, और एक हाथ से बिस्तर की चादर उलटने पुलटने लगा।

इस उत्तर पर नाग ने बुरा नही माना। पूछा––अच्छा यह बतलाओ शास्त्रीजी उस बेचारी को रखेली करके घर मे डालोगे या किसी तरह का व्याह सम्बन्ध स्थापित करोगे ?

अग्निदत्त की आँखे चमक उठी। बोला––चाहे संसार इधर का उधर हो जाय परन्तु यदि कर्म मे विवाह करना बदा है तो उसी के साथ होगा।"

वर्माजी की औपन्यासिक कृतियो के कथोपकथनो मे पैनापन और सक्षिप्तता भी है तथा इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण उनकी 'टूटे काँटे' मे नूरबाई व रोनी का वार्तालाप है जिसमे एक शब्द का एक वाक्य है और एक वाक्य का एक कथन। देखिए––

"(रोनी) बोली कुछ बाते करे और बातें करते करते सो जाये।

अच्छा। करो।

तुमने कभी भैंस दोही है ?

नही।

खेत काटे ?

नही।

उपले पाथे ?

हाँ।

कुएँ से पानी भरा ?

हाँ।

रसोई तो अच्छी बनाती होगी ?

नही।

बच्ची फँसी ?

नहीं।

तो क्या अभी तक झक ही मारती रही।"

कथोपकथन का एक अन्य गुण पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होना है तथा जिस प्रकार का पात्र है कथोपकथन भी उसी की प्रवृत्तियों के अनुकूल होने पर ही उनमें सजीवता आ सकती है अतः इस प्रकार के वार्तालाप में भाषा का भी परिवर्तित रूप दर्शनीय होता है। वर्माजी ने भी अपने औपन्यासिक पात्रों की बातचीत उन्हीं के अनुरूप रखकर स्वाभाविकता को स्थिर रखा है और पात्रों की मनोवृत्तियाँ एवम् उनकी प्रवृत्तियों के अनुरूप कथोपकथनों के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। इस प्रकार 'मृगनयनी' का पात्र बोधन रूढ़िवादी ब्राह्मण है और जब राजा उससे रूढ़ि का आग्रह छोड़ देने को कहता है तब वह यही उत्तर देता है "मैं राज्य छोड़कर परदेश चला जा सकता हूँ, पर वर्णाश्रम धर्म को लात नहीं मार सकता।" आगे भी वह यही कहता है—"प्राचीन ऋषियों ने जो कुछ किया उसको अब न तो कोई बदल सकता है और न उसमें किसी नई बात को उत्पन्न कर सकता है!" इसी प्रकार 'मृगनयनी' का निहालसिंह सामन्त वर्ग का है और उसकी बातों की अकड़ सिकन्दर लोदी के सामने भी स्थिर रहती है तथा वह मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। वह स्पष्ट शब्दों में सिकन्दर लोदी से कहता है—"आपको भी जानना चाहिये कि आप किसी ऐरे गैरे से बात नहीं कर रहे हैं। जिसके पुरखों ने इसी दिल्ली में लोहे की कील गाड़ी और जो फिर उसने भी बड़ी कील गाड़ने की दम रखता है, जिसके राजा ने कभी बैरी के सामने सिर नहीं झुकाया, उसी का सामन्त सामने खड़ा है। दिल्ली को आपके पुरखों ने दो हजार टंकों में खरीद लिया होगा क्योंकि उसके दुर्दिन हैं परन्तु ग्वालियर को समूचे विन्ध्याचल की तौल सोने के बदले में भी नहीं मोल ले सकेगी।" साथही 'मृगनयनी' के महमूद बर्घरा के कथन में उसकी हिंसक प्रवृत्ति भी स्पष्ट झलक उठती है। वह निन्नी और लाखी का वास्तव में उतना प्रेमी न था बल्कि कोई ऐसा अवसर ढूँढ रहा था कि युद्ध और मारकाट हो। वह कहता भी है—"मांडू के सुल्तान और दो देहाती छोकरियों के पीछे न पड़कर बिलोचियों को पहले कुचल डालना जरूरी है। फिर देखा जायेगा। .....अगर मिल गई तो देखूंगा। कम से कम कम ख्याल तो अच्छा है। मजेदार है। कुछ भी न मिला तो जंग की कसरत तो हाथ पैरों को मिलेगी ही। तलवार और तीर से कट कर लुढ़कते हुए सिर और धूल पर बहता हुआ खून।"

यहाँ 'विराटा की पद्मिनी' का निम्नलिखित अवतरण भी दर्शनीय है क्योंकि इसमें एक ओर तो उत्तर-प्रत्युत्तरों में हाजिर-जवाबी है और दूसरी ओर छोटी

रानी की अधिकारप्रियता, अधैर्य व अनुभवहीन स्वार्थपरता तथा लोचनसिंह की निस्पृहता, निर्द्वन्द्वता, अकड़ और बेलाग बात एक-एक वाक्य से टपकती है। देखिए—

"रानी ने कहलवाया—लोचनसिंह, भगवान न करे कि महाराज का अनिष्ट हो, परन्तु यदि अनहोनी हो गई, तो राज्य का भार किसके सिर पडेगा ?

जिसे महाराज कह जॉय।

तुम्हारी क्या सम्मति है ?

जो मेरे स्वामी की होगी।

या जनार्दन की ?

महाराज की आज्ञा से जनार्दन का सिर तो मै एक क्षण मे काटकर तालाब मे फेंक सकता हूँ।

यदि महाराज कोई आज्ञा न छोड गये तो ?

वैसी घडी ईश्वर न करे, आवे।

और यदि आई ?

यदि आई तो उस समय जो आज्ञा होगी, या जैसा उचित समझूंगा करूँगा।

रानी कुछ सोचती रही। अन्त मे उसने यह कहलवाकर लोचनसिंह को विदा किया कि 'भूलना मत कि मै रानी हूँ।'

'इस बात को बार बार याद करने की मुझे आवश्यकता न पडेगी।' यह कहकर लोचनसिंह चला। रानी ने फिर रुकवा दिया। दासी द्वारा कहलवाया—सिंहासन पर मेरा हक है, भूल तो न जाओगे ?

उसने उत्तर दिया—जिसका हक होगा, सहायता के लिये मेरा शरीर है।

और किसी का नही है।

मै इस समय इस विषय मे कुछ नही कह सकता।

स्वामिधर्म का पालन करना पडेगा।

यह उपदेश व्यर्थ है।

तुम्हारे आँखे और कान है। किस पक्ष को ग्रहण करोगे ?

जिस पक्ष के लिये मेरे राजा आज्ञा दे जायेगे, और यदि वह बिना कोई आज्ञा दिए सिधार गए, तो उस समय जो मेरी मौज मे आवेगा। लोचनसिंह चला गया। रानी बहुत कुढी।"

इसी प्रकार 'मृगनयनी' मे मानसिंह जब अटल और लाखी को नरवर का किला बचा लेने के लिए धन्यवाद देते है तथा उन्हे हाथी मे बिठाकर अपने साथ ले जाते है तब जनता की कानाफूसी और अशिक्षित व विशेषकर ग्रामीण स्त्रियों की समस्त प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित कथोपकथनो मे झलक उठती है—

"तमाशा देखनेवाली स्त्रियों मे से एक ने दूसरी से कहा—अपना राजा है बहुत अच्छा, बड़ा रसिया है। है न ?

रसिया न होता तो उसको हाथी पर कैसे चढ़ा देता। सलहज है उसकी। साले को भी हाथी पर चढ़ा दिया। अच्छा तो रहा।

बाई! रूप सरूप ने बिठला दिया हाथी पर। क्या सचमुच तुर्कों की सेना को रस्सी और नसेनी पर से नट उतर लाते नगर मे ?

की तो लाखी ने बहादुरी। इतना तो कहना पड़ेगा।

इतनी कि राजा घोड़े पर और वन छोकरी हाथी पर। हाँ, रूप की लुनाई है उसमें। तुमने लखा या नहीं, जब हाथी पर चढ़ने को जाने लगी, तब कैसी आँख उठाई थी राजा पर।

राजा उसको ग्वालियर ले जाकर महलों मे डाल लेगा।

राजा जो ठहरा, चाहे जो करे, पर है अच्छा। ठीक समय पर आ गया नहीं तो नरवर राख हो जाता, उसी ने बचाया।"

वर्माजी के कथोपकथनों मे प्रसंगानुकूलता भी है और उनमे श्रृंगार व वीर रसों की ही प्रधानता है तथा कथोपकथनों मे एक प्रकार की विचित्र-सी सजीवता आ गई है। उदाहरणार्थ; महल की छत पर बैठे मानसिंह और मृगनयनी जब बातचीत कर रहे थे तब उनके वार्तालाप मे दाम्पत्य प्रेम की अपूर्व एवम् सुन्दर व्यंजना की गई है; देखिए—

"आज तुमको गायक बैजू की परिपाटी का बहुत अच्छा गायन वादन सुनने को मिलेगा—मानसिंह ने कहा।

वह उल्लास के साथ बोली—और इसके उपरान्त मैं भी अपने यहाँ आपको कुछ सुनाऊँगी और तांडव नृत्य दिखलाऊँगी। मैंने तैयार कर लिया है।

अवश्य! अवश्य! तुम जो कुछ भी न कर डालो वह थोड़ा है।

अच्छा अब आप लगे बनाने।

तो तुम मान कर जाओ, मैं मनाने लगूंगा।

यहाँ, चलिये मेरे यहाँ, फिर देखूंगी आपको, कितना मनाते है। आज रंग-पंचमी है। संभल कर आना।

अच्छा तो रही, देखे कौन किसको छकाता है।

आपको हरा दूंगी।

उस हार मे भी मेरी जीत रहेगी।

वाह! वाह! चित भी मेरा और पट्ट भी मेरा! वे हँस पड़े।"

इसी प्रकार का एक उदाहरण और दर्शनीय है—

"मानसिंह को प्रवचन करने की वृत्ति मे देखकर मृगनयनी ने उसकी ओर आँखे ऊँची की। ओठो पर मुस्कान खिल गई और चेहरे पर निखर गई ! टोक कर बोली–मन को जो आनन्द मिलता है, वह किस आनन्द के समान होता है।

इस मुस्कान को देखकर जो आनन्द मिलता है उसके समान।

इतने निकट से ?

बडी कठिनाइयाँ भी तो निकट ही आती हैं, जिनका सामना निकट से ही करना पड़ता है। दूर की कठिनाइयाँ तो थोड़ा सा डर छोड़ कर चली जाती है।...

छोड दीजिये नही तो ओठो को समेट कर मुँह लटका लूँगी।

तो मै हँस पडूँगा, फिर ?

आप बहुत बुरे है।

और तुम बहुत अच्छी हो, बुरे भले की जोडी का तो नियम ही है।"

वस्तुत. परिस्थिति-विशेष के अनुसार पात्रो के कथोपकथन भी परिवर्तित होते रहते है और कथोपकथनो का विभिन्न परिस्थितियो मे ढल जाना ही उनका वास्तविक गुण है अत. इस प्रकार के कथोपकथनो की अधिकता भी वर्माजी के उपन्यासो मे है। उदाहरणार्थ; 'मृगनयनी' के अटल और लाखी निष्कपट एवम् सरल गामीण ही है अतएव उनकी प्रेमाभिव्यक्ति मे नितान्त सरलता ही है। इस प्रकार जगल मे तनिक एकान्त मिलने पर अटल जब लाखी को कुछ स्थिरता से देखता है तब वह दृष्टि नीचे नही करती बल्कि उससे धीरे से पूँछती है 'क्या बात है ?' यहाँ दोनो का वार्तालाप दर्शनीय है–

"क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ? बक नही फटता।

फिर भी ?

मैं तुमको बहुत चाहता हूँ। बहुत प्यार करता हूँ।

मैं जानती हूँ।

लाखी ने आँखे नीची कर ली। अटल ने उसके कंधे को एक बाँह मे भर लिया।

हम तुम एक होकर सदा साथ रहना चाहते है। कभी अलग नही होंगे। अटल ने काँपते हुये स्वर मे कहा।

कैसे हो सकता है ऐसा ? हमारा तुम्हारी जात-पात अलग है।

तुम मुझको चाहती हो या नही। पहले यह तो बतलाओ।

मैं क्या कह सकती हूँ ? तुमको कैसा जान पडता है ?

मुझको जान पडता है हम-तुम एक हो जायेगे।....

तुम्हारा मन पक्का है।

मेरे मन से नही, अपने मन से पूछो।

बस अब और कुछ नही पूछना है।"

इसी प्रकार 'कचनार' मे मानसिंह और कलावती के प्रथम प्रणयालाप में कलावती मे अधिक संकोच नही है; देखिए–

"मानसिंह ने तकिया से जरा सिर उठाकर कहा–जरा घूंघट डालो, देखूं घूंघट के अंधेरे मे नेत्र कितनी चाँदनी बरसाते है ?

कलावती मुस्कराकर बोली–कितना लम्बा डालूं ?

मानसिंह–हाथ भर लम्बा, जैसे रानियाँ हाथ भर लम्बा डालती है।

कलावती–अपने हाथ के नाप से या तुम्हारे हाथ के नाप से।

मानसिंह–अच्छा, एक बीता लम्बा, तुम्हारे कोमल हाथ का बीता।

कलावती–वही रहने दो, हाथ भर लम्बा, उसमे क्या क्या देखोगे ?

मानसिंह–अरे, उसमे से तो कुछ भी न देख सकूँगा। अच्छा केवल चार अंगुल।

कलावती ने घूंघट चार छः अंगुल पीछे हटा लिया। मानसिंह बोला–यह तो मैने घूंघट आगे डालने के लिये कहा था, या पीछे हटाने को ?

कलावती ने हँसकर कहा–दाँतो की उज्वल पंक्तियो से जगमगाहट-सी झरी–तुमने कहा था घूंघट डालो, मैने डाल दिया। आगे-पीछे की बात तो कही नही थी।

मानसिंह–अब आगे डालो।

कलावती–फिर कहोगे पीछे खीचो।

मानसिंह–नही कहूँगा।

कलावती–पक्की बात ?

मानसिंह–बिलकुल पक्की।

... ...

मानसिंह बोला–अब घूंघट पीछे हटा लो। बहुत देर से तुमको देखा ही नही।

कलावती ने घूंघट थोड़ा सा और आगे खीचा।

मानसिंह ने हँसकर कहा–मैने यह कहा था ?

कलावती ने घूंघट के भीतर हँसते हुए पूछा–मै क्या तुम्हारी फौज की सिपाही हूँ जो इतनी कवायत-परेड करूँ ?

मानसिंह–हाँ, हो। नही, नही सेनापति। सेनापति को राजा का हुक्म मानना पडता है।

कलावती–जाओ मै ऐसी सेनापति नही। अभी कहोगे खडी हो जाओ, फिर कहोगे बैठ जाओ, फिर दौडो। इतना सब हुकुम संसार का कोई भी सेनापति मानता होगा ? मानसिंह हँसा।"

प्रणय-संवादो के उत्कृष्टतम उदाहरणो मे 'विराटा की पद्मिनी' से कुमुद-कुंजरसिंह के संवाद भी प्रस्तुत किये जाते हैं और यहाँ एक उदाहरण दर्शनीय है–

'कुंजर ने कहा–तो जाऊँ ?

कुमुद वोली–जाइए, मैं पीछे-पीछे आती हूँ।

तब मैं न जाऊँगा।

यह मोह क्यो ?

'मोह' कुंजर ने जरा उत्तेजित होकर कहा–मोह ! मोह ! मोह न था। अब मरने का समय आ रहा है, इसलिये मुक्त होकर कह डालूँगा कि क्या था . . .।' परन्तु आगे उससे बोला नही गया।

कुमुद उसकी ओर देखने लगी।

कुछ क्षण बाद कुंजर ने कहा–तुम मेरे हृदय की अधिष्ठात्री हो, मालूम है ?

कुमुद का सिर न-मालूम जरा-सा कैसे हिल गया। आँखे फिर तरल हो गई।

तुम मेरी हो ? आवेशयुक्त स्वर मे कुंजर ने प्रश्न किया।

कुमुद ने कुछ उत्तर न दिया।

कुंजर ने उसी स्वर में फिर प्रश्न किया–मैं तुम्हारा हूँ !

कुमुद नीचा सिर किये खड़ी रही। . . .

कुंजर बोला–केवल एक बात मुँह से सुनना चाहता हूँ।

बहुत मधुर स्वर मे कुमुद ने पूछा–क्या ?

तुम मुझे भूल जाना।

नीचा सिर किए हुए ही कुमुद ने कुंजर की ओर देखा। थोड़ी देर तक देखती रही। आँखो से आँसुओं की धार बह चली।

कंपित स्वर मे कुंजरसिंह ने पूछा–भुला सकोगी ?

कुमुद के होठ कुछ कहने के लिये हिले, परन्तु खुल न सके। आँखो से और भी अधिक वेग से प्रवाह उमड़ा।

कुंजर की आँखे भी छलक आईं। बड़ी कठिनाई से कुंजर के मुंह से ये शब्द निकले--प्राणप्यारी कुमुद सुखी रहना। एक बार मेरी तलवार की मूठ छू दो।"

वीर रस से पूर्ण कथोपकथन की सृष्टि मे भी वर्माजी पूर्ण सफल रहे हैं और उनके उपन्यासों की नायिकाएँ प्रेम ही नही करती बल्कि उस प्रेम के लिये बलिदान के हेतु भी सर्वदा तत्पर रहती हैं। यदि हम कभी उनके मुख से शृंगार की मधुर वाणी सुनते हैं तो कभी वे ही वीर रस से पूर्ण उद्‌गारो द्वारा हमें

"महाराज एक दरिद्र परन्तु निर्लोभ ब्राह्मण से बात कर रहे है। धर्म वेचा नही जा सकता।

क्या तुम नही सोचते कि कितने हिन्दू तुम लोगो के इस कट्टरपन के कारण धर्म और समाज से दूर जा पड़े है।

शरीर मे फोड़ा या कोढ़ होने से वह अंग काम का नही रहता।

तुमको कभी फोड़ा हुआ है या कोढ़?

कभी नही।

होगा तो क्या करोगे?

अंग को काटकर फेक दूंगा।

विवेक से काम लो शास्त्री।

महाराज से मैं क्या निवेदन करूँ? इतना तो भी कहना पडेगा कि क्षत्रिय ब्राह्मण को उपदेश देने के लिये नही बनाये गये है, धर्म, गौ, ब्राह्मण की रक्षा के लिये बनाये गए हैं।"

आवेशपूर्ण स्थलो पर तो कथोपकथनो मे एक प्रकार की अद्‌भुत गति सी आ गई है और इस सम्बन्ध मे 'गढ़कुंडार' का वह वार्तालाप उल्लेखनीय है जब अग्निदत्त तारा के वेश मे मानवती का हरण करने के लिए पहुँचता है पर नागदेव उसे पहिचान लेता है तथा दोनो की बातचीत मे आवेश की ही स्वाभाविक रूप से अधिकता है; देखिए–

"नाग ने टोककर कहा–नीच, पामर, पिशाच। अपने मित्र के साथ यह घात। इस बालिका के साथ यह दैत्याचार।

अग्निदत्त–गाली देने से कोई लाभ नही। मैं आपको आपके प्रण का स्मरण दिलाता हूँ और सहायता केवल यह चाहता हूँ कि यह छुरी मुझको अपनी छाती मे भोक लेने दीजिये।

नाग का हाथ ढीला पड़ने लगा–बोला–राक्षस! मित्रघाती तेरे लिये आत्मघात की सुविधा बड़ा भारी दान होगा। मै अपने हाथ से तेरा गला घोटूंगा। . . .

. . . नाग बोला–मौत नही। पुरानी बातो का स्मरण करके तेरे लिये दूसरा दंड निर्णय करता हूँ। इसी समय कुंडार छोड़कर किसी नरक मे जा डूब। कभी अपना पापी कुत्सित मुंह कुंडार के राज्य मे मत दिखलाना। यदि कभी इस राज्य की सीमा मे देखा गया तो खेतसिंह की सौगन्ध खाता हूँ कि खाल मे भुस भरवा-ऊँगा और तेरे कुटुम्ब का कोई भी दुर्दशा से न बचने पायेगा। तेरे भी एक बहन है। सोच ले।"

इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' मे कुंजरसिंह और देवीसिंह का सामना होने पर दोनो तलवारे खीच लेते है पर कुमुद दुर्गा के मदिर मे रक्तपात न होने देना चाहती थी अतः दोनो–कुजर और देवीसिंह–के मध्य उग्र आवेश पूर्ण स्वरो मे वार्तालाप होता है; देखिए–

"कुंजर ने कहा–गलियो के भिखारी, छलप्रपच करके, मेरे पिता के सिहासन पर जा बैठा है, इसीलिये ऐसी बाते मार रहा है। मदिर के बाहर चल और देख ले कि पृथ्वी माता को किसका प्राण भार समान हो रहा है।

देवीसिह गरज कर बोला–चल बाहर, दासी पुत्र, चल बाहर, महाराज नायकसिह के सिहासन पर शुद्ध बुदेला ही बैठ सकता है। वदियो के जाये उसे छू भी नही सकते।"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी के उपन्यासो मे प्रयुक्त कथोपकथन सभी आवश्यक विशेषताओ से पूर्ण है और उनमे स्वाभाविकता, सजीवता व सरसता का सहज सामजस्य है।

औपन्यासिक तत्त्वो में देश-काल और वातावरण-चित्रण का भी अत्यत उल्लेखनीय स्थान है और विचारक यही मत व्यक्त करते है 'प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का सच्चा प्रतिनिधि है और उसकी रचनाओ मे उस काल के जनजीवन का सच्चा चित्र उपस्थित रहता है। इसी प्रकार उपन्यास की रचना देश और काल के घेरे में बँध कर आगे बढती है। प्रत्येक उपन्यास के चरित्रो का जीवन शून्य मे न होकर समाज के रहन-सहन, आचार-विचारो तथा वाह्य परिस्थितियो से अवश्य प्रभावित होगा। जीवन की स्मरणीय दशा और घटना उपन्यासकार के समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।" साथ ही "वातावरण पात्रो का संसार है, वही रहकर वे अपने क्रियाकलापो का परिचय देते है। या यो कहिये उपन्यास मे पात्रो के कथोपकथन तथा क्रियाकलाप को छोडकर शेष सामग्री देश-काल या वातावरण से सम्बंध रखती है। देश-काल के अतर्गत कथा के सभी वाह्य उपकरण उसकी योजना मे सहायता प्रदान करनेवाले पात्रो के आचार विचार, रीति नीति तथा रहन सहन, प्राकृतिक पीठिका और परिस्थिति आ जाते है। इस प्रकार वातावरण की सृष्टि मे मुख्यतया दो तत्त्वों का हाथ रहता है–उसमें रहनेवाले मनुष्यो तथा मनुष्येतर जगत् का।" इस प्रकार देश-काल और वातावरण-चित्रण की दृष्टि से वर्माजी के उपन्यासो का मूल्याकन करना आवश्यक हो जाता है।

यह तो प्रायः सर्वविदित ही है कि श्री. वृन्दावनलाल वर्मा के अधिकाश उपन्यास बुदेलखंड से ही सम्बधित है अत उनमे बुदेलखडी वातावरण का स्पष्ट चित्रण किया गया है और उन्होने बुदेलखडी पुट लाने के लिए बुदेलखड के

ऐतिहासिक घटनास्थलों अथवा प्राकृतिक दृश्यो का विस्तृत वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने विराटा, गढकुडार, झाँसी, ग्वालियर, नरवर आदि का प्रमुख रूप से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ; गढकुडार मे कुडारगढ, शक्ति भैरव के मदिर, भरतपुरा की गढी आदि बुदेलखड के प्रसिद्ध स्थलो का वर्णन किया गया है। विराटा की पद्मिनी मे विराटा की गढी, पटुज नदी, पालर की झील, गढमऊ और 'झाँसी की रानी' मे झाँसी का किला, कचनार मे धामौनी' का किला व सागर, 'मृगनयनी' मे मानमंदिर, गुजरी महल, राई गाँव, साक नदी और नरवर जैसे बुदेलखंड के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थलो का वर्णन किया गया है।

उक्त प्रसिद्ध स्थलो के वर्णन के अतिरिक्त वर्माजी ने बुदेलखंड के बीहड जगलो, नदी-नालो, पर्वतों और झीलों जैसे प्राकृतिक दृश्यो का मनोमुग्धकारी वर्णन कर अपनी रचनाओ मे रमणीय वातावरण की सृष्टि करते हुए ऐतिहासिक उपन्यासो के ऐतिहासिक वातावरण के लिए भी उचित पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। यहाँ कुछ उदाहरण दर्शनीय है और हम देखते है कि लेखक ने बुदेलखंड की नदियो, पहाडो, गाँवो तथा झाड़ी-झुरमुट आदि के प्रति पूर्ण आत्मीयता प्रकट की है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उनके अधिकांश उपन्यासो मे किसी न किसी बुदेलखंडीय नदी का वर्णन अवश्य दृष्टिगोचर होता है और बेतवा, धसान व टौस आदि नदियो का वर्णन कुछ इतनी सूक्ष्मता व सुन्दरता से किया गया है कि पाठको को भी उनसे मोह हो जाता है। 'गढकुंडार' से बेतवा का यह चित्र दर्शनीय है--"बेतवा नदी अपनी दोनों धारो से कलकल करती बढती जा रही थी। कुछ दूर ऊपर से पत्थरो के टकराने का शब्द पवन से मिलकर कभी धीमा और कभी प्रबल हो जाता था। दोनो धारो के बीच मे कई टापू बन गये थे। एक जो सबसे बडा था और अब भी है, लगभग आध मील लम्बा और पाव मील चौड़ा था!!! उसके किनारो पर जामुन और ऊमर के सघन और सदा हरे-भरे रहनेवाले वृक्ष नीचे की ओर झुक आये थे। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणे हरी पत्तियो के साथ कल्लोल-सी कर रही थी। इनके नीचे कही पतली सी धार बहती थी और प्राय. बडे बडे गहरे नीले जल से भरे हुए दह थे। पक्षी इन पर अपनी परछाई डालते हुए रात के बसेरे के लिये इधर उधर चले जा रहे थे। कभी बाज को और कभी किसी जगली पशु को पानी के लिए किसी दह की ओर उतरते हुए देखकर टिटहरी बोल उठती थी।"

अपने अन्य उपन्यासो मे भी वर्माजी ने बेतवा नदी के एक से एक सुन्दर चित्र अकित किए है और कहीं तो वह शान्त गति से प्रवाहित जान पड़ती है तथा कहीं दहाडे मारते हुए बहती दिखाई गयी है। 'विराटा की पद्मिनी' की प्रधान पात्री कुमुद इसी बेतवा की धार मे आत्म-बलिदान कर देती है और 'लगन' मे रामा

भी इसी भरी बेतवा में कूद जाती है तथा 'संगम' में तो वह बेतवा अपने कुछ निराले रूप में ही अंकित हुई है। देखिए—"सूर्य ढल चुका था। हवा तेज चल रही थी। बेतवा लहरें भर रही थी। सुनहरी किरणें तट की हरी वृक्षावली पर नाच रही थी। लहरों पर उतराती हुई किरणें कभी कभी बरातियों के चेहरे पर झाईं दे जाती थीं।.... किसी कारण दो बड़े बड़े आँसू जानकी की आँखों में आ गये। लहरों पर उतराती हुई अस्तगत सूर्य की कोमल किरणों की छाया उन मोतियों की बूँदों में जा बसीं। उन बूँदों मे निश्चित बेतवा की लहरें खेल गईं, शून्य आकाश की असीमता चमक गई और अनन्त भविष्य की वियोगपूर्ण निराश्रयता।"

'कचनार' मे धसान और 'मृगनयनी' में सांक नदी के अनेक सौन्दर्य चित्र हैं तथा 'गढ़कुंडार' में बेतवा और पलोथर के संयुक्त सौन्दर्य की यह झाँकी दर्शनीय है—"पूस का महीना था। सूर्यास्त होने में बहुत देर थी। देवरा से पाव मील दूर पलोथर की पहाड़ी कीचड़ मे बहने वाले नाले के दोनों किनारों के पेड़ के झुरमटों की नीलिमा पर रवि रश्मियाँ नाच सी रही थीं। बेतवा के पश्चिमी किनारे पर से ऐसा भान होता था मानों वनदेवी के पदचारण के लिए पलोथर ने लम्बा सुनहला पांवड़ा बिछा दिया हो।"

नदियों के साथ-साथ वर्माजी ने बुंदेलखंड के नालों, तालाबों और झीलों का सौन्दर्य भी अपने उपन्यासो में अंकित किया है। कचनार का यह लघु चित्र दर्शनीय है—"धामोनी की झील पहाड़ी ढोकों में है और गोल नहीं है। किनारे कोणमय हैं। एक स्थान से दूसरा स्थान आसानी से नहीं दिखलाई पड़ता।" इसी 'कचनार' से एक अन्य उदाहरण और भी दृष्टव्य है—"अभी गर्मी ने ऋतु पर अपना अधिकार नहीं जमा पाया था। सागर की झील की एक एक लहर पर कल्लोल करने वाली सांध्य रश्मियो को वसंत के मेघों ने घेर लिया। हवा धीमी थी और नीम के पुष्पराग से लदी हुई। संध्या के बाद मेघ और पवन दोनों और कुछ और सघन हुए।"

बुंदेलखंड प्रदेश पर्वतीय प्रदेश कहलाता है और इस पहाड़ी प्रदेश की पहाड़ियों व आसपास उत्पन्न वृक्षावलियों का सौन्दर्य भी वर्माजी ने अपने कई उपन्यासो में अंकित किया है। इस प्रकार 'झाँसी की रानी' में वह विन्ध्याचल पर्वत की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहते हैं—"उस पार की पहाड़ियों का लहरियादार सिलसिला हरियाली से ढँका हुआ था। बादल के सफेद भूरे टुकड़े पहाड़ियों की चोटी और हरियाली को चूमने के लिये नभ से उतर उतर कर टकराते चले जा रहे थे।... पहाड़ों की कंदराओं मे घुसे हुये, उनको आच्छादित किये हुये, बादलों में होकर वह बकुलावलि छिपाती हुई सी मालूम पड़ी। और

फिर तितर बितर हुई। जैसे हिलती हुई सांवली, सलोनी चादर मे टके हुये सितारे। पहाड़ पर बड़े बड़े और सघन पेड। गहरे हरे श्यामल।" इसी प्रकार 'गढकुंडार' मे पलोथर की पहाडी का अपूर्व सौन्दर्य दीख पड़ता है--"सूर्य की कोमल किरणे वृक्ष शिखाओ की झुरमुटों की अनवरत समाधि स्थली पर बिछौना सा बिछाये हुई थी। पलोथर, कुडार और दक्षिणवर्ती सारौल की पहाड़ियाँ इन झुरमुटो के ऊपर उकडू सी बैठी या लेटी मालूम पड़ती थी। कुंडारगढ के बुर्ज प्रकाश मे चमक से रहे थे। गिरि श्रेणियाँ ऐसी मालूम पडती थी मानो भीमकाय अटल सैनिक जुझौति के इस खंड की रक्षा के लिये डटे हो।" साथही 'मृगनयनी' मे राई गाँव के आसपास छाई पहाड़ियो का सौन्दर्य भी निखरे हुए रूप मे है--"एक दिशा मे उन रजत लहरो के उस पार छोटी-छोटी पहाडियो के ऊपर एक ऊँची पहाड़ी सिर उठाकर धूमिल नेत्रो मे चाँदनी को भर सा लेना चाहती थी। ऊँची पहाड़ी का शिखर धुंए का स्थिर पुंज सा जान पड़ता था। नदी के इस पार दूसरी दिशा मे विशाल वृक्षो की सेज के पीछे एक ऊँचा पहाड चन्द्रमा को मानो नीचे उतर आने के लिये आवाहन सा दे रहा था। बीच बीच मे पतोखी टी टी ची ची कर देती थी जिससे न तो चाँदनी विचलित हो रही थी और न पर्वत के ऊँचे शिखर का ध्यान ही।"

बुन्देलखंड के झाड़ झंखाडो एव खेत-खलिहानो के वर्णन मे भी वर्माजी को पर्याप्त सफलता मिली है और इन वर्णनो का अध्ययन करने पर सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि वर्माजी ने बिना प्रत्यक्ष अवलोकन के किसी भी वस्तु का वर्णन नही किया। इसीलिए जंगलों, खेत खलिहानो और झाड झंखाड़ो के वर्णन मे हमे उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है तथा बुंदेलखंडीय वनस्पति के सम्बन्ध मे उनके अपूर्व ज्ञान का बोध होता है। 'गढकुडार' का यह संक्षिप्त चित्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—"सालय, करघई, रेवजा, नेगड़, अड़सा, खैर, कॉकेर और मकोय के घने जंगल मे जहाँ कही-कही शिकारियो को हतोत्साहित करने के लिये लम्बी-लम्बी घास भी खड़ी हुई थी, इस दल को अपने घोडो के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, जगह-जगह कांटे चुभे और भरको तथा नालो मे होकर घोड़ों को निकालने मे कई स्थानो पर प्राणो पर आ बनने का संकट उपस्थित हुआ।" इसी प्रकार 'मृगनयनी' मे खेतो और झाड़-झंखाड़ो के चित्र अत्यंत सुन्दर बन पड़े हैं; उदाहरणार्थ " .... आगे एक पहाड़ी की एक छोटी सी ओट मिली जो लम्बाई मे नदी की ओर गई थी। आँख के इशारे से दोनो इसी के नीचे की ओर बढी। पहाड़ी के नीचे साल, सागौन, महुए और अचार के बड़-बड़े पेड़ थे। पहाड़ी के ऊपर करघई की घनी हलकी कत्थई रंग की झाड़ी थी। दोनो इस पर चढ़कर उस ओर के नीचे मैदान के जंगल को निरख करना चाहती थी परन्तु पहाड़ी की घनी करछई मे घुसने के लिये पतली पगडडी भी नही थी।"

'विराटा की पद्मिनी' मे तो जंगली पेडो, झुरमुटों और खेतो का विशद पर स्वाभाविक वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ--"विरवई से लगे हुए तीन चार महुए के पेड थे। महुओ के पीछे से एक चक्करदार नाला निकला था। दूसरी ओर वह पहाडी थी जो मुसावली पाटा कहलाती है। एक ओर बीहड़ जगल। कुंजरसिंह महुओ के नीचे गया। एक अहीर की कुछ भैसे नाले के पास चर रही थी। कुछ महुए के नीचे ऊँघ रही थी। एक लड़का कुछ धूप कुछ छाया में सोता हुआ जानवरो की देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी और आधी सूखी थी। करधई के पत्ते पीले पड़ पड कर गिरने लगे थे। नाले का पानी अभी नही सूखा था--कुछ भैसे उसमे लोट लोट कर शब्द कर रही थी। चिड़ियाँ इधर से उधर उड कर शोर कर रही थी। सूर्य की किरणो में कुछ तेजी और हवा में उष्णता आ गयी थी।"

वर्माजी ने बुदेलखंड के कुछ किलो का भी स्वाभाविक वर्णन किया है और 'मृगनयनी' मे नरवर के किले का वर्णन करते हुए वह कहते है "नरवर के नगर कोट मे तीन फाटक थे, एक उत्तर की ओर और दो पूर्व दक्षिण मे। दीवारे ऊँची थी और फाटक मजबूत। हाथियो के कवचरक्षित माथे को फोड़ने के लिये फाटको के बाहरी ओर बड़े मोटे, नुकीले लोहे के कील जड़े हुये थे। खाद्य सामग्री नगर और किले के भीतर कम से कम एक वर्ष के लिये पर्याप्त थी।....रक्षा के लिए लडनेवाले और आक्रमणकारियो का भर्ता कर देने के लिए फाटको की बुर्जो और कोटमीनारो पर भारी-भारी चट्टाने थी जिनको नीचे ढकेल दिया जाय तो गाज सी टूटे।" इसी प्रकार 'कचनार' मे धामोनी के किले का संक्षिप्त वर्णन करते हुए लेखक कहता है "किला अधिक विशाल था और उसमे अनेक बडी-बड़ी बुर्जे थी। बुर्ज पचास फीट से अधिक ऊँची और किले की दीवाल पन्द्रह फीट से कम मोटी न होगी। बुर्ज से थोडे ही फासले पर कबरे थी।" इसी प्रकार मृग-नयनी मे राई की गढी और ग्वालियर के किले का वर्णन तथा 'झांसी की रानी' मे झासी के किले का वर्णन उपन्यासकार की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्माजी ने बुदेलखंडीय प्रकृति का हृदयग्राही, रम्य एवम् यथार्थ वर्णन कर अपने उपन्यासों में न केवल स्वाभाविकता और सजीवता की सृष्टि की है अपितु देशकाल-चित्रण व वातावरण-सृष्टि की ओर जागरूकता भी दिखाई है। साथही बुदेलखंड के विगत काल का चित्रण करने के लिए उन्होने सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक तीनो प्रकार की परिस्थितियो का विशद चित्रण भी किया है। इस प्रकार "तत्कालीन समाज के अन्दर विविध वर्गो, राजा, प्रजा और सामन्तो के परस्पर सम्बन्धो का चित्रण करके जहाँ वृन्दावनलाल वर्मा ने सामाजिक रहन-सहन का चित्रण किया है, वहाँ

उन्होंने प्रजा के दैनिक जीवन की आशा-आकाक्षा, सुख-दुख, रीति-रिवाज और तीज त्यौहारो का वर्णन भी किया है। इन रीति-रिवाजो और सामाजिक विश्वासों के चित्रण द्वारा उन्होने अपनी रचनाओ को प्रामाणिक एव विश्वसनीय बनाने का यत्न किया है। उदाहरण के लिए गढकुडार मे वर-प्राप्ति के लिए कठोर व्रत, कचनार मे विवाह के नेग-दस्तूर, झाँसी की रानी मे हलदी कूकू उत्सव द्वारा उन्होने तत्कालीन समाज के हर्षोल्लास तथा आस्था और विश्वास का चित्रण करना चाहा है।"

वस्तुत. बुदेलखड के सास्कृतिक एवम् सामाजिक जीवन के अनेक चित्र वर्माजी के उपन्यासो मे पाए जाते है और इन सबके सयोग से बुदेलखंड के समाज व संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। 'विराटा की पद्मिनी' का एक उद्धरण दर्शनीय है-"जिस समय बडे बडे राजा और नवाब अपनी विस्तृत भूमि और दीर्घ सम्पत्ति के लिये रोज रोज खैर मनाते थे, अपने अथवा पराए हाथो अपने मुकुट की रक्षा मे व्यस्त रहते थे और उसी व्यस्त अवस्था मे बहुधा दिन मे दो चार घटे नाच रग, दुराचार और सदाचार के लिये भी निकाल लेते थे उस समय प्रजा अपनी थोड़ी सी भूमि और छोटी सी सम्पत्ति के बचाव की फिक्र करते हुए भी देवालयो मे जाती, कथा वार्ता सुनती और दान-पुण्य करती थी। संध्या समय लोग भजन गाते थे। एक दूसरे को सहायता के लिये यथावकाश प्रस्तुत हो जाते थे। यद्यपि बडो के सार्वजनिक पतन की विषाक्त छाया मे साधारण समाज को खोखला करनेवाले अर्थमूलक स्वार्थ का पूरा घुन लग चुका था और कायरता तथा नीचता घेरा डाल चुकी थी परन्तु बडो को छोड़कर छोटो मे छलकपट और बेईमानी का आम तौर पर दौर दौरा न हुआ था। झाँझ बजाकर रामायण गाते थे।" सच तो यह है कि वर्माजी के प्रायः सभी उपन्यासो मे यथावसर ग्राम्य जीवन की सुन्दर झाँकियाँ अकित की गयी है और बुदेलखंडीय ग्रामो के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के इन चित्रो के कारण न केवल उनके उपन्यास अत्यधिक समृद्ध हो उठे है अपितु उन्हे पढ़कर तत्कालीन बुदेलखंडीय वातावरण का पूर्ण ज्ञान भी हो जाता है। विचारक वर्माजी के उपन्यासो को ऐसे दर्पण के सदृश्य मानते है जिनमे बुदेलखंडियो का सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन, वहाँ का इतिहास और वहाँ की प्रकृति प्रतिविम्बित हो उठी है।

वर्माजी ने धार्मिक स्थितियो का भी स्वाभाविक चित्रण किया है और उन्होने "बुदेलखंड के अतीत की धार्मिक स्थितियो का वर्णन करने के लिए जन-साधारण के धार्मिक विश्वास, अध श्रद्धा, यज्ञ अनुष्ठान,पूजा पाठ आदि का भी रोचक वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, गढ़कुंडार में दुर्गा तथा शिव की पूजा की विधि का उल्लेख किया गया है। इसमे शक्ति भैरव के मंदिर तथा भैरव चक्र की शिला के स्थापित

होने का वर्णन आता है। 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद को देवी का अवतार माना जाता है और उसकी रक्षा के लिए दांगी राजपूत जौहर कर लेते है। 'कचनार' मे अचलपुरी महन्त के अखाड़े तथा गुसाइयों के प्रति जनता के अंधविश्वास का वर्णन किया गया है। मृगनयनी मे लिंगायत सम्प्रदाय के मत और विश्वास की चर्चा के साथ-साथ वोधन शास्त्री की हठधर्मी तथा धार्मिक कट्टरता का उल्लेख भी है। इसके अतिरिक्त मुसलमान शासक सिकन्दर लोदी की धार्मिक असहनशीलता तथा संकीर्णता का वर्णन भी किया गया है, जिसके कारण वोधन शास्त्री को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। ऐसे अनेक प्रसंगो की सहायता से तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति का चित्रण करने मे वृन्दावनलाल ने कोई कसर उठा नही रखी।"

तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक स्थितियो के चित्रण के साथ-साथ वर्माजी ने उस युग की राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशद वर्णन किया है तथा कही-कही तो वह युग-विशेष की राजनीतिक अवस्था का कुछ ऐसा विशद वर्णन करते है कि इन्हें यदि ऐतिहासिक रिकार्ड कहा जाय तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार हम कह सकते है कि देश-काल-चित्रण और वातावरण-सृष्टि की दृष्टि से श्री. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास पूर्ण सफल रहे हैं।

वस्तुत: "भावाभिव्यक्ति की माध्यम भाषा है और उस माध्यम के प्रयोग की रीति या विधि शैली है" अत: प्रत्येक उपन्यासकार की उपन्यास-कला का मूल्यांकन करते समय उसकी भाषाशैली का विश्लेषणात्मक परिचय भी आवश्यक हो जाता है। यो भी विचारकों ने औपन्यासिक तत्वो मे भाषा-शैली नामक एक पृथक तत्त्व का भी उल्लेख किया है और जहाँ तक श्री. वृन्दावनलाल वर्मा की भाषा का प्रश्न है, विचारक इस सम्बन्ध मे यही मत व्यक्त करते है "वर्माजी द्वारा विशाल परिमाण मे रचित साहित्य के अनुपात से ही उनकी भाषा भी सम्पन्न है। लेकिन जैसे अपने समस्त साहित्य मे वर्माजी वुंदेलखंड की परम्पराओं का विस्मरण नहीं कर सके, वैसे ही वुंदेली भाषा भी उनकी लेखनी की नोक से कभी अलग नही हुई। इनके द्वारा रचित कृति किसी भी वर्ग अथवा किसी भी देश-काल से सम्बन्ध रखनेवाली हो, वुंदेली भाषा उसमे अपना स्थान सुरक्षित किये विना नहीं मानती।" इसी प्रकार समीक्षक डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने वर्माजी की औपन्यासिक भाषा को वुंदेली प्रभावों से युक्त मानते हुए उक्त प्रभावो को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उसे निम्नलिखित उपशीर्षकों मे रखकर उसका परिचय दिया है--

संज्ञा शब्द—वर्माजी ने वुंदेली भाषा से जिन प्रचलित संज्ञाओं को लिया है, उनमें से कुछ ये हैं—

टौरिया (छोटी पहाड़ी), ढो (नदी का ऊँचा किनारा), पेड़ भरका (नदी का खार), करघई, रेवजा, अचार (तीनो वृक्ष विशेष), पतोखी (रात में बोलने वाली एक चिड़िया), रमतूला (रणतूर्य या धौसा), गदेली (हथेली), फुरेरू (फुरफुरी), झरब (पर्दा), झीम (नीद का झोका), नावता (सयाना), तंजानुयायी, ततूरी (गरम रेत से जलना), बंधिया (खेत की ऊँची मेड), छपका (धव्वा), हुलास (संस्कृत उल्लास), उकास (संस्कृत अवकाश), आवर (संस्कृत आवरण), दुबचर्रा (चपेट), हुरकनी (वेश्या), उसार (घर का काम), अटक (आवश्यकता), सोझ (साझा), खँगोरिया (हसली), चुकावरा (भुगतान), बरोसी (अँगीठी), रोरा (हल्ला, शोर), उलायत (जल्दी, तेजी), डिडकार (बड़े पशु की जोर की आवाज), तिपहरी (तीसरा पहर), तिगलिया (तिराहा), रावर (अंतःपुर) आदि।

कुछ संज्ञा शब्द दो शब्दों से मिलकर भी बने है। जैसे–थराई-विनती (अनुनय-विनय), किनर-मिनर या हिचर-मिचर (आनाकानी), रीना-झाना (हीन, दरिद्र), अटक भीर (आवश्यकता या चिन्ता), सोझ-बाट (हिस्सा बाँट), इखर-बिखर (फूट, अलगाव), चोट जरब (हानि) आदि।

विशेषण शब्द–ये शब्द भाव व्यंजना की अद्भुत क्षमता रखते है। इनमे से कुछ वर्माजी द्वारा बनाये जान पड़ते है। ऐसे शब्द है–धूमरे बादल (धुएँ के से बादल), मदीली चितवन (मदभरी चितवन), चँदीली लहरे (चाँदी की सी लहरे), मुँछाडिया (बड़ी मूँछो वाला), उटंगड़ पैजामा (ऊँचा पायजामा); करमीले (कर्मठ)।

क्रियापद–कोचना (चुभाना), आँसना (कसकना), सकेलना (इकट्ठा करना), बरकाना (बचाना), समोना (मिलाना), निर्वारना (दिखाई देना), निर्वरना (निश्चय करना), रानना (स्वीकार करना, बताना), ओटना (पेलना), मीसना (मोड़ना), समा आना (चक्कर आना), पसीने मे सरसक होना (पसीने से नहा जाना), पछियाना (पीछा करना), धकियाना (धक्का देना) आदि।

कुछ शब्दों को वर्माजी इकार से प्रारभ करके लिखने के पक्ष मे है। जैसे–चिनौती, सिपुर्द, जिमीन, किलपना, मुस्किराना, आदि। लुकछिप को छपलुक और खंडहर को खडहल लिखने तथा अधिकाश के लिये बहुतांश का प्रयोग करने मे भी वे बुरा नही मानते। कदाचित भाषा मे माधुर्य और आकर्षण लाने के लिए ही ऐसा किया गया है।

मुहावरे–तली झड़ना (मन की बात निकलवाना), जीभ लीकना (कुछ कहने को उत्सुक होना), सकारना (समर्थन करना), सुग सुग चलना (मंत्रणा होना) मन में मथानी सी फिरना (हलचल या घबराहट होना), बक न फटना

(बोल न निकालना), सिर कोल खाना (माथा पच्ची करना), चिमाई साधना (चुप्पी साधना), धप्प ढीलना (चपत लगाना), कुन्दी करना, (मरम्मत करना), पंखा का परेवा बनना (बात का बतंगड़ होना), तोरई छोकना (बक बक करना), निराला पाना (एकान्त पाना या फुर्सत पाना), बर्ताव बसराना (दया दिखाना), खुटानी आना (कमी होना), घंटा गुजारी करना (समय बरबाद करना), चोटा ओढ़ना (चोट सहना) आदि। कुछ मुहावरे और वाक्यखंड तो ऐसे है जो विचित्र अर्थ देते है। उनमे से एक है–'उनका पीछा हुए कई वर्ष हो गए।' इसका अर्थ है–'उनके मरे हुए कई वर्ष हो गए।' कही कही वर्माजी ने बडे सार्थक मुहावरे स्वयं बनाये है। उनमे व्यंजना-शक्ति का अद्‌भुत चमत्कार है। जैसे उठता-बैठता समाचार आया इसका अर्थ उड़ती उड़ती खबर है, पर इसमे वह चमत्कार नही है।

कहावतें–मोरे घर से आग लाई नाँव धरौ वैसान्दुर (मेरे घर से आग लाई नाम रखा वैश्वानर), गँवार की अक्ल चोटी मे होती है, ककड़ी के चोर को गल्ला उतारने का दंड देना, पाँसा पडे सो दाँव, पंच करे सो न्याव, मौसी कहकर कौन काजल लगवावे (सच्ची कह कर कौन बुरा बने), घर की कुरैया से आँख फूटती है (घर का भेदी लंका ढावे), कानी के टेट पर सिन्दूरी (अरहर की टट्टी गुजराती ताला), कपड़े मे लपेटकर दाँत से काट ले तो जूठा नहीं होता, आदि।

इस प्रकार डॉ. कमलेश वर्माजी की भाषा को बुंदेलखंडी प्रभावो से युक्त ही मानते है और शायद बुंदेलखंड का सम्पूर्ण वातावरण स्पष्ट करने के लिए ही वर्माजी ने बुंदेली शब्दो, मुहावरो व कहावतो का निस्संकोच अधिकाधिक प्रयोग किया है पर वास्तव मे उनके उपन्यासो की भाषा सरल खडी बोली ही है तथा हम उनकी भाषा का प्रतिनिधि उदाहरण 'झाँसी की रानी' से इस प्रकार दे सकते है–"उनका कसरतो का शौक शीघ्र विख्यात हो गया। अमीरखाँ और वजीरखाँ दो नामी उस्ताद उनको मिले। बाला गुरु भी बिठूर से आये और मल्लविद्या के सूक्ष्मतम दाँव पेच बतलाकर चले गए। नरसिंहराव टौरिया के नीचे दक्षिणियो के मुहल्ले मे वे एक अखाड़ा जारी कर गये। रानी कुश्ती का अभ्यास अपनी सहेलियो के साथ करती थी। तीर, बन्दूक, छुरी, बिछुआ, रैफल इत्यादि चलाने मे पहले श्रेष्ठता इन्होने अमीरखाँ और वजीरखाँ के निर्देशन से प्राप्त की थी–ऐसी और इतनी कि उनकी कुशाग्र बुद्धि, शक्ति और हस्त-कुशलता पर वे तीनो नामी उस्ताद विस्मय में डूब जाते थे। वे जानते थे कि रानी उद्दंड प्रकृति की है, इसलिए कभी-कभी लगता था कि हथियार न चला दे या परीक्षा के लिए ललकार न बैठे। यह उनका भ्रम था। रानी का बाह्य रूप प्रचंड और तेजपूर्ण था, परन्तु अंतर बहुत कोमल और उदार।"

उक्त उद्धरण मे महारानी के चारित्रिक गुणों का परिचय देना ही उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है पर उसमे वर्माजी की भाषा की समस्त विशेषताएँ भी आ गई है। प्रारंभ से ही विचार किया जाय तो **'कसरतों का शौक'** के साथ **'शीघ्र विख्यात'** लाकर अरबी, फारसी या संस्कृत को एक साथ रख देने मे उनको कोई असुविधा नही जान पडती। **'मल्लविद्या के सूक्ष्मतम दॉव पेंच'** के स्थान पर वह **'मल्लविद्या के सूक्ष्मतम भेद या भेदोपभेद'** भी कर सकते थे। अगले वाक्य मे **टोरिया** बुंदेलखंडी शब्द है और **दक्षिणी** जनता द्वारा महाराष्ट्रियों के लिए उपयुक्त अपनी टकसाल मे ढाला हुआ शब्द। **'कुश्ती का अभ्यास'** मे फारसी और सस्कृत साथ-साथ बैठी है। **'हस्तकुशलता'** का सस्कृत प्रचलित रूप **'हस्तलाघव'** है, पर कुशलता सहज ग्राह्य है, अत: वर्माजी ने बोधगम्यता के लिए **लाघव** न रखकर **कुशलता** रख दिया है। साथ ही **ललकार बैठना** मुहावरा भी प्रयुक्त हुआ है और अतिम वाक्य सस्कृत तत्सम शब्दावली से युक्त है। इस प्रकार हम देखते है कि वर्माजी की भाषा में निस्सकोच सभी भाषाओ के शब्द, ग्रामीण प्रयोग और प्रचलित मुहावरे एक साथ मिल जाते है तथा इसे उनकी भाषा का सामान्य रूप समझना चाहिए।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो की भाषा प्रसगानुकूल और पात्रानुकूल ही है अत· उनके उपन्यासो मे स्वाभाविकता तो है ही पर भाषा में भी गति आ गई है। सामान्यतया वर्माजी के उपन्यासो के हिन्दू पात्र संस्कृत के तत्सम एवम् तद्भव शब्दो से युक्त भाषा का व्यवहार करते है पर ग्रामीण पात्रों की बोली मे स्थानीय और ग्रामीण शब्दो की प्रचुरता है तथा मुसलमान पात्रो की भाषा मे उर्दू-फारसी के शब्दो का स्वाभाविक ही समावेश हुआ है। इस प्रकार भाषा मे एक प्रकार का अजीब-सा चलतापन आ गया है और उनके उपन्यासो मे इस सम्बध मे अनेक उदाहरण इस प्रकार की भाषा के मिलते है। उदाहरणार्थ; जब निशा अचल से कहती है कि उससे विवाह कर उसने (अचल ने) त्याग किया है तब अचल के उद्गारो मे सस्कृत के तत्सम एवम् तद्भव शब्दो की ही प्रचुरता है—"असली त्याग तुम्हारा है। हमारा समाज आज भी पिछडा हुआ है। उसी समाज के लाज संकोच मे विधवाएँ अपने हाड़-मांस को गला-गला कर और जला-जला कर जीवन को विताती है। पाखडियो और धूर्तो की पूजा होती है पर इन यातनाग्रस्त तपस्वियो को कोई पूछता है। पहले मैं सोचता था मैंने वास्तव मे त्याग किया है परन्तु तुमको पाने के कुछ ही दिन वाद समझ मे आ गया कि त्याग मैंने नही तुमने किया है। अनेक स्त्री-पुरुष तुम्हारी कितनी उपेक्षा न करते होगे। वैसे ही अपने को चिता में ज.म भर जलाती रहती तो वे स्त्री-पुरुष मौखिक आदर दे देते परन्तु उनकी नि.शब्द ग्लानि को कितनी विधवाएँ सह सकती है? इस पर भी कहती हो कि मैंने त्याग किया?"

ग्रामीण पात्रों की भाषा का स्वरूप तो कुछ और ही है तथा 'कुंडली चक्र' की पूना का यह कथन दर्शनीय है "मत बुलाओ, कोई अटक नही है, दाह के लिए गांव भर है। मास्टर साहब है ही।" इसी प्रकार पूना जब पहली बार अजित को देखती है तब कहती है–"छावनी से रासधारी आये हैं। अथए कै रास हुइ है।" यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ठेठ देहाती पात्र तो बुंदेलखंडी में ही बातचीत करते हैं; उदाहरणार्थ 'गढ़कुंडार' के अर्जुन कुम्हार का यह कथन दर्शनीय है–"अर्जुन कौ बान खाके कोऊ राम को नांव लौ नई लै पाउत।" इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' में एक किसान कहता है–"ऐसी का जल्दी परी दाऊजी। जो कछू लटौ दूबरा, कनूका हमाए गांठ मे है, सो नजर है। हमसे ऐसी का बिगरी कि अबई जावो हो जैय ?"

जैसा कि हम अभी-अभी कह चुके हैं वर्माजी के उपन्यासों के मुसलमान पात्र अधिकतर उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा का ही व्यवहार करते है। यहाँ 'मृगनयनी' के गियासुद्दीन खिलजी की भाषा का यह उदाहरण दर्शनीय है–"गयास ने सरूर के लहजे मे बतलाया–मोर खूबसूरत चिड़िया है सो आप लोगों में से मोर कोई भी नही। उसको देखते ही आप लोगो को अपनी कमी डस डस लेगी। घोड़े का सिर्फ सिर दिखलाया गया है, इसलिए आपको याद आता रहेगा कि आप आधे घोडे है और आधे कुछ और। बन्दर की तसवीर पेश करने में मसलहत की हद कर दी उन कारीगरो ने। आप सब असल में बन्दर हैं–बिलकुल बन्दर। खिलाओ तो चपड़ चूं चूं और न खिलाओ तो भी वही करे। न भले को ठिकाने से रहने दे और न बुरे को।" इसी प्रकार 'झांसी की रानी' मे पीर अली की मोतीबाई से निम्नलिखित बातचीत मे मुसलमान पात्रो द्वारा प्रयुक्त की जानेवाली भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है–"मैं तो फर्ज और शौक दोनों के लिए मौजूद रहूँगा। उस्ताद मुगल खां के घुरपद से जब जी भर जाये तब आपका ख्याल और नाटक के गीत ही मौज पैदा कर सकते हैं। सच पूछिये तो न दिन भर का समय हो और न मुगल खां साहब को सुना जा सके।" साथही गुलमुहम्मद पठान की भाषा भी उसी के वर्ग के व्यक्तियो के समान है; जैसे–"बस बाई अब बन्दूक या कोई हथियार नही छुयेगा। अम खुदा पाक की याद मे बाकी जिन्दगी खतर करेगा।" जब एक अंग्रेज सवार उससे रानी की समाधि के सम्बंध में पूछता है 'यह किसका मजार हैं साई साहब' तब वह कहता है "अमारे पीर का। वो बौत बड़ा वली था।"

उक्त उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने मे पूर्ण सफल रहे हैं और उनकी भाषा में भावात्मकता का गुण भी विशेष रूप से है। अपने सर्वप्रथम प्रकाशित उपन्यास 'गढ़कुंडार' में ही उन्होने कई

स्थलो पर भावात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ; बन्दी दिवाकर तारा को नही भूल पाता और उसे नीद आ जाती है तथा वह स्वप्न देखता है--"दिवाकर ने स्वप्न देखा कि वह भोजन कर रहा है। तारा लम्बा कछोटा मारे परोसने को आई। एक बार परोसा और फिर परोसने लगी! कहा--अब बस करो। न मानी। हँस कर कहा, तारा, तंग मत करो। चली गई। देर तक न आई। भोजन सामग्री समाप्त हो गई। और माँगी। कोई न आया। चिल्ला कर माँगी। तब आई तारा। उदास थी। बोली--तुम तो रुष्ट हो गये। तारा से रुष्ट! असंभव!! किसने तुमसे कहा? तारा मुस्कराई। कहा--तुम रुष्ट हो गई थी या मै? अच्छा, अब भूख नही है, पास बैठ जाओ। तुमको देखता रहूँगा। आजन्म, जन्म जन्मान्तर! अनन्त काल तक। उसकी आँखो मे कृतज्ञता की तरलता लक्ष हुई। कृतज्ञ नेत्र! सुन्दर, मनोहर और हृदयहारी। किसने बनाये? क्यो बनाये? आत्मा के गवाक्ष! पवित्रता के आकाश! प्रकाश के पुज। फिर उसके चारो ओर आभा का एक मडल-सा खिंच गया। जैसे गढ के चारो ओर दीवार सी खिंच गई हो। दिवाकर ने प्रभामडलावृत्त तारा की ओर अपने हाथ फैलाये! फैलाता गया। तारा मुस्कराती रही। पृथ्वी ने क्षितिज की सहायता से नभ का स्पर्श किया। मेघ आया, बूँद गिरी। भूमि का छोटा सा पर्वत बूँद के सहारे आकाश गंगा की निर्मल धारा को छू गया। प्रकृति और पुरुष, पुष्प और सुगंध, वर्ण और सुवर्ण, नेत्र और ज्योति, आशा और पुरुषार्थ, स्नेह और मृदुलता, मोह और प्रीति, देह नाशवान है, रूपान्तरमयी, परन्तु आत्मा अमर। प्रकाशवृत्त बढा, ज्योतिर्मयी तारा और अन्धकाराच्छादित दिवाकर। परन्तु प्रकाश मंडल और बढ़ा, अधकार कम हुआ, उसका अन्त हुआ। तारा की ज्योति मे दिवाकर तारामय हो गया। जैसे भास्कर और ऊषा, रवि और रश्मि, दोनो एकाकार, एक आत्मा का दूसरे मे समावेश। आत्मा का लयकार। अच्छिन्न, अभिन्न, अखंड। इतना प्रकाश, इतनी दीप्ति। दिवाकर ने देखा--प्रकाश तापमय है। प्रचंड प्रकाश और प्रचंड ताप! दिवाकर की देह जलने लगी। आँख खुल गई। माथे पर और गले पर बहुत पसीना आ गया था!"

वर्माजी के उपन्यासो मे अलंकृत व चित्रमयी भाषा का भी प्रयोग हुआ है और विचारपूर्वक देखा जाय तो उक्त गुणो से पूर्ण उदाहरणो से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ; 'अचल मेरा कोई' मे कुन्ती के नृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है "झीनी चादर के भ व को व्यक्त करने के लिये कुन्ती ने अपनी साड़ी का एक छोर, जरा सा, बहुत थोड़ा सा, उंगलियो को कमल का आकार देकर पकड़ा और ताना। दूसरे हाथ से उसने झीनी बतलाने के लिए वृत्त बनाये। वक्ष स्थल उभर उठा। फिर ताल के ठमक ने उसकी सारी देह को लहरा दिया।

वह लहर सिर तक जाकर लौटी और वक्षस्थल पर जाकर सिमटी और हिल गई। . . . कुन्ती ने नाचे हुए नाच को दुहराया. . . . ! वही लहर, देहलता उसी तरह हिली, कमल के पत्तो पर जैसे कमल लहरा जाय उसी प्रकार उसके उभरे हुए अंग लहराये।" सच तो यह है कि उपमाओ की सृष्टि के लिए वर्माजी अत्यधिक प्रसिद्ध हैं और अपने उपन्यासों में वह कहीं-कही इतनी सुन्दर उपमाएँ दे जाते हैं कि मन मुग्ध हो उठता है। 'विराटा की पद्मिनी' का एक उदाहरण देखिए "कुमुद ने अंगूठीवाले हाथ में गेंदे का फूल ले लिया। हाथ, सोने, हीरे और गेंदे के फूल के रंगों मे आधे क्षण के लिये स्पर्धा-सी हो उठी!" इसी प्रकार 'झाँसी की रानी' का एक उदाहरण दर्शनीय है–"पहाड़ों की कंदराओं में घुसे हुए, उनको आच्छादित किये हुये बादलों मे होकर वह बकुलावलि छिपती हुई सी मालूम पडी और तितर बितर हुई जैसे हिलती हुई साँवली सलोनी चादर मे टंके हुये सितारे!"

इसी प्रकार वर्माजी के उपन्यासो मे काव्यात्मकता का गुण भी विद्यमान है और सौन्दर्य वर्णन करते समय तो वह काव्यमय चित्रण ही करते है तथा कभी कभी भाषा गद्यात्मक न रहकर पद्यात्मक भी बन जाती है। यों तो काव्यमयी भाषा के अनेक उदाहरण वर्माजी के उपन्यासो से दिए जा सकते है पर हम यहाँ केवल एक ही उदाहरण दे रहे है "खेत से थोड़ी ही दूर नदी बह रही थी। उसके एक सिरे का पानी बहता हुआ दिखाई पड़ रहा था। चन्द्रमा की रिपटती हुई चांदनी झिलमिल जान पड़ती थी मानो चाँदी की चादरो के आवरों पर आवेर चिलचिला रहे हों। छोटी छोटी सी आडी सीधी लहरो की कलकल झोकों पर नाचती खेलती हुई खेत के पौधो की झूम पर उतर उतर पड़ रही थी। चंद्रिका खेत के हरे पौधों की अधपकी बाला को अपनी कोमल अंगुलियो से खिला-सा रही थी।"

चित्रात्मकता व काव्यात्मकता के साथ-साथ वर्माजी की भाषा में ओजस्विता भी है और युद्ध, आक्रमण या मारकाट के वर्णन मे उनकी भाषा की ओजस्विता तथा सजीवता देखते ही बनती है। उदाहरणार्थ–"रामगढ़ के गढ़ से विराटा की गढ़ी पर एक निशाना बाँध कर धांय धांय गोले बरसने लगे, और उसकी दीवारें एक एक कर टूटने लगी। एक गोला मंदिर पर गिरा। उसका एक भाग खंडित हुआ। दूसरा गिरा, दूसरा भाग खंडित हुआ। पत्थरो और ईंटों के इतने टुकड़े टूटकर बेतवा की धारा में गिरे कि पानी छर्रे छर्रे ही हो गया।" इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों मे वीर दर्पोक्तियो की भी अधिकता है; जैसे "यह आवश्यक नही है कि स्वराज्य की स्थापना हम अपने जीवनकाल मे ही देखते। सीढी के डंडे पर पैर रखते ही हम छत पर नही पहुँच जाते। एक ही त्याग, एक ही मरण, एक ही जन्म से स्वराज्य नही मिलता। स्मरण रखो, हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल पर नही। दृढ़ उद्देश्य और निरंतर कर्म, हमारा केवल ध्येय यह

है। जीवन कर्त्तव्य-पालन का नाम है, कर्त्तव्य पालन करते हुए मरना जीवन का दूसरा नाम है।"

भाषा की भाँति वर्माजी के उपन्यासों मे शैलीगत विविधता भी विद्यमान है और यो तो उपन्यासो मे शैली के अनेक प्रकार दीख पड़ते है पर सुविधा की दृष्टि से उसके वर्णन प्रधान शैली, विचार प्रधान शैली व हास्य व्यग्यप्रधान नामक मुख्य रूप माने जा सकते है। चूँकि वर्माजी मूल रूप से ऐतिहासिक उपन्यासकार है अतः उनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे वर्णन प्रधान शैली की ही अधिकता है और गढों, युद्धो, सेनाओ तथा राजदरबारो के विस्तृत विवरण ही दीख पड़ते है पर सामाजिक उपन्यासो मे खेत खलिहानो, पंचायत सभाओ, मेले तमाशो व तीज त्योहारों के भी वर्णन है। इस प्रकार वर्माजी की कृतियो मे वर्णन प्रधान शैली का ही आधिक्य दीख पडता है और इसके बहुसख्यक उदाहरण भी मिलते है। जैसे "सेना के शोरगुल और जगल के कट जाने के कारण हाथी, गेंडे, अरने, कुछ दूर शहर मे हट गये, परन्तु हाथियो की चिग्घाड़, हवा के झोको के साथ कभी कभी शिविर में सुनाई पड़ जाती थी। बीच-बीच में नाहर की गरज भी। शिविर के जो सिपाही सिरे पर थे उनको ये आवाजे अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी। अलावो में ये लक्कड़पर-लक्कड़ डालकर प्रज्वलित अग्नि शिखाओ मे वे अपने डर को मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। दूर के पहाड़ घूमरे धुँधले बादलो को आड़ी तिरछी रेखाओ मे दिख दिख जाते थे। दूर के पेड़ धोखे की टट्टियो जैसे, और पास के ऊँचे मोटे पेडो के झुरमुट मे हवा से हिल जाने-वाले पत्ते कुछ धमकी सी दिखलाने वाले। जब लौ बहुत तेज हो जाती तब वे चचल चमक मे लुकते-छिपते से दिखते। लौ धीमी पड़ती तो उनके टेढे-मेढे विकृत आकार खडे मुर्दों के जैसे। फिर लौ तेज हुई और तुरन्त मंद तो जैसे मुर्दो के प्रेत बन गये हो। दूर के हाथी की चिग्घाड़ या नाहर की गरज सुनाई दी तो सिपाही अलाव के और नजदीक आ गये और हथियारो पर बार बार निगाह डालने लगे। इनके सिर पर केवल आकाश का तम्बू था।"

वर्माजी के उपन्यासो मे कोरे ऐतिहासिक तथ्य ही नही दीख पड़ते बल्कि प्रणय प्रसंगो व प्रकृति चित्रो मे उनकी भावुकता भी स्पष्टतया झलक उठती है। यहाँ एक उदाहरण दर्शनीय है "कुजरसिंह, भाव के प्रवाह मे बहता हुआ-सा बोला–यदि आपने निषेध किया तो मैं आपकी आज्ञा का उल्लघन करूँगा, यदि आपने अनुमति न दी तो मैं अपने हठ पर कायम रहूँगा–मैं छाया की तरह फिरूँगा, पक्षियो की तरह मँडराऊँगा। चट्टानो की तली मे, पेडो के नीचे खोहो मे, पानी पर, किसी-न-किसी प्रकार बना रहूँगा। आपको भृकुटि भंग का अवसर न दूंगा, परन्तु, निकट बना रहूँगा। साथ रखूँगा केवल अपना खड्ग। समय आने पर

पत्र मे कहा भी है "शुरू से ही मेरा स्वभाव तथ्यों की खोज और उनके आधार पर लिखने का रहा है। मेरा एक सूत्र है, अंग्रेजी मे--क्रिएटिव ट्रीटमेंट आफ एक्चुअलिटी--तथ्य या वास्तविकता की सृजनात्मक रचना। इसीलिये हर उपन्यास या कहानी मे कोई न कोई छोटी-बड़ी समस्या लुके-छिपे या कुछ खुले हुए रख देता हूँ--नही तो कोरे फिक्शन के बारे मे मेरा भी वही मत समझिये जो हैरल्ड निक्सन का है। मात्र मनोवैज्ञानिक चरित्रो के समावेश या यौन वासनाओ के उद्घाटन वाले फिक्शन का भविष्य तो क्या वर्तमान भी मुझे कुछ अच्छा नहीं जान पड़ता, क्योंकि, मेरे मन मे, समाज के लिए उनकी उपयोगिता बहुत नही है। मैंने अपने लिए जो ध्येय ४० वर्ष पहले स्थापित कर लिया था वह परिधि मे बढ़ा ही है। घटा नही है।"

वर्माजी के इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह साहित्य का उपयोगितावादी महत्व ही स्वीकार करते है और केवल मनोरंजन ही उसका लक्ष्य नहीं समझते। इसीलिए शोधकर्त्ता स्पष्टतया कहते है कि "उनके उपन्यासो मे 'प्राचीन' हमारा मनोरंजन तथा कुतूहलवर्द्धन करने के साथ साथ हमे वर्तमान मे कार्य करने की स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करता है। जिस प्रकार चिकित्सक व्यापारियों की शरीर रचना को भली प्रकार समझने के लिए कंकालो का अध्ययन तथा शवो की चीरफाड़ करता है वैसे ही वर्माजी ने वर्तमान को भली-प्रकार समझने तथा सुधारने के लिए पुरातनता का गहरा अध्ययन किया है। वे अतीत के अग्राह्य के दुष्परिणाम को सामने रखकर ग्राह्य को उभारते हुए पाठक को उसे ग्रहण करने की प्रेरणा देते है। वर्माजी ने इतिहास के चौखटे मे मानव की शाश्वत समस्याओ और क्रियाओ को ऐसी विधि से सजोया है कि वे बीते युग की कहानी होकर भी 'आज' की चर्चा हैं।

वर्माजी ने ऐतिहासिक तथा सामाजिक, सभी उपन्यासों में भारत के पतन के मूलाधार 'समाज' को अपनी प्रयोगशाला बनाया है। विभिन्न घातक सामाजिक कुरीतियों, मजदूरो, किसानो की हीन दशा का परिचय देते हुए उन्होने भारत के सामाजिक, सास्कृतिक पुनरुत्थान की योजना प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि निर्बल को सबल, अव्यवस्थित को सुव्यवस्थित और कुरूप को सुरूप बनाने पर रही है।

इस प्रकार वर्माजी के उपन्यासो मे उनका व्यापक जीवन दर्शन व्यक्त हुआ है और सर्वत्र उनमे जनकल्याण की भावना सजग रहती है तथा उनका मूल लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरं की साधना' रहता है। सच तो यह है कि जीवन के ठेठ यथार्थ मे आदर्श का गहरा पुट देना ही उन्हे पसन्द है और उसे ही हम उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते है तथा वह जीवन की प्रेरणा से ही

कला का प्रस्फुटन उचित समझते हैं। अपने एक उपन्यास 'अचल मेरा कोई' मे उन्होने अचल द्वारा 'कला के लिये कला' के सिद्धान्त का खडन करवाते हुए कहलाया भी है "(यह) एक सुन्दर वाक्य है और कुछ नही। स्वान्तः सुखाय कुछ हो सकता है, पर कला के लिये कला तो निरर्थक है। विना किसी प्रेरणा के कला का विकास हो ही नही सकता।"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी के उपन्यासो मे औप-न्यासिक तत्त्वो का सम्यक् निर्वाह हुआ हे और उपन्यास-कला की दृष्टि से उनके उपन्यास निर्विवाद रूप से पूर्ण सफल है। यों हो सकता है, उनमे कतिपय निर्बलताएँ भी हो पर इन साधारण-सी त्रुटियों के कारण उनका महत्व कम नही हो जाता तथा उपन्यास-कला की दृष्टि से तो उनकी कृतियो मे उत्तरोत्तर निखार ही आता गया है। इस प्रकार डॉ. पद्मसिह शर्मा 'कमलेश' ने उनके प्रति उचित ही कहा है "वर्माजी का स्थान हिन्दी साहित्य को समृद्ध करनेवाले कलाकारो मे अन्यतम है। श्रम और सेवा के जिन आदर्शो की प्रतिष्ठा उनके द्वारा हुई है। उनसे जीवन की भाँति जीने की प्रेरणा ही नही मिलती, प्रत्युत निरंतर गतिशील रहने की शक्ति भी प्राप्त होती है।"

महाप्राण निराला का काव्य-कृतित्व

स्वर्गीय सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे जिन्होने हिन्दी साहित्य के विविध अंग-उपांगों को समुन्नत करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया किन्तु उन्हें कवि के रूप मे ही विशेष ख्याति प्राप्त हुई। सामान्यत: विचारक आधुनिक हिन्दी कविता मे स्वच्छन्दतावाद का पुरस्कर्ता निराला को ही मानते है और एक विद्वान ने तो स्पष्टतः यहाँ तक कहा है कि 'मुक्त छन्द ही नही, मुक्त आत्मा की व्याख्या निराला ने सर्वप्रथम की है। यदि इस विवाद को छोड़ भी दिया जाए कि छायावाद का आरम्भकर्ता कौन था तो प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की यह चतुष्टयी सम्मिलित रूप से हिन्दी कविता के युगान्तर के लिए ऐतिहासिक महत्व की है। इस चतुष्टयी में निराला का महत्व मुक्त छंद और विशुद्ध दार्शनिक भावनाओं तथा कलाकार की तटस्थता के आख्यान मे है। जितनी विविध और एकाधिक भाव भूमि की कविताएं छायावाद काल मे निराला ने दी, उतनी अपेक्षाकृत किसी ने नही। प्रश्न केवल छायावाद की स्थापना और आरम्भ का ही नही, वरन् उसके पूर्ण परिष्कार और विकास का भी है, जिसमे निराला ने अपना अप्रतिम योग दिया है। छायावाद काल में ही निराला ने प्रगतिवादी भावनाओ का द्वार खोल दिया था और 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' मे इनका प्रारम्भिक रूप मिल जाता है। स्वभावतः निराला हिन्दी काव्य की एकाधिक प्रवृत्तियो का नेतृत्व करते हैं। आरम्भकर्त्ता और प्रतिष्ठाता से आगे बढ़कर उनका महत्व परिष्कर्त्ता और समृद्ध विकास देनेवाले पुरोधा के रूप मे भी है। सांस्कृतिक जागरण की चेतना का जितना काव्याभिव्यंजन निराला ने किया है उतना किसी ने नही। स्वच्छन्द काव्य के अग्रदूत के साथ ही वे सांस्कृतिक कलाकार के उत्तरदायित्व का समुचित निर्वहन करते हैं और हिन्दी काव्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्राप्त काव्योन्दोलन मे उनका महत्व ऐतिहासिक है।' इस कथन से हिन्दी कविता के इतिहास मे निराला का महत्व स्पष्ट हो जाता है और हम देखते है कि उन्हे निर्विवाद रूप से एक युग-प्रवर्तक कवि कहा जा सकता है, पर इस उल्लेखनीय उपाधि से उन्हें विभूषित करते समय यहाँ उनके काव्य-कृतित्व के ऐतिहासिक विकास का सक्षिप्त, पर सारगर्भित परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है।

यों तो निरालाजी ने हिन्दी साहित्य जगत म सन १९१६ मे ही प्रवेश किया था और सन १९१६ मे ही वह कुछ ऐसी उत्कृष्ट कविताएँ लिख चुके थे जिन्हे कि विचारकों ने उनको श्रेष्ठतम रचनाओं मे स्थान दिया है पर निराला का पहला काव्य संग्रह 'अनामिका' नाम से सन १९२३ मे ही प्रकाशित हो सका। यद्यपि डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'महाकवि निराला : काव्य कला और कृतियाँ' मे 'परिमल' को निराला का प्रथम कविता-संग्रह मानकर 'अनामिका' को उसके पश्चात् स्थान दिया है; पर उनका यह कथन युक्तिसगत नही है, क्योंकि अनामिका का प्रकाशन सन १९२३ मे ही हो चुका था और परिमल उसके प्रकाशन के लगभग छह-सात वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। सम्भवतः उपाध्यायजी से यह त्रुटि इसलिए हुई होगी कि उन्हे यह ध्यान ही न रहा कि अनामिका के दो सस्करण क्रमशः सन १९२३ और सन १९३८ मे प्रकाशित हुए है तथा उन दोनो मे पर्याप्त विभिन्नता भी है पर यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि 'अनामिका' का पहला संस्करण कवि निराला की काव्य-साधना का प्रथम सोपान है।

अनामिका के पहले संस्करण मे निराला की प्रारम्भिक कविताएँ संग्रहीत है और यह रचनाएँ नारायण, मतवाला एवम् समन्वय नामक पत्रो मे पहली बार प्रकाशित हुई थी। यद्यपि इस संग्रह की अधिकाश कविताएँ साधारण स्तर की कही जाती है और उनका मूल्य कवित्व की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से ही अधिक माना जाता है, पर इसका यह अर्थ नही कि अनामिका निरी महत्वहीन कृति है। सच तो यह है कि अनामिका विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी कृति है और 'यदि हिन्दी साहित्य मे स्वच्छन्दतावाद की किसी एक कृति को प्रतिनिधि रूप मे लेने का प्रश्न हो, तो बहुतो की दृष्टि निरालाजी की पहली अनामिका पर जाएगी।' इस प्रकार अनामिका का पहला सस्करण निराला-साहित्य ही नही, 'सम्पूर्ण हिन्दी काव्य साहित्य में अपना स्थायी महत्व रखता है' और उसमे संग्रहीत 'पंचवटी प्रसंग', 'जूही की कली' तथा 'तुम और मै' नामक कविताएँ तो हिन्दी काव्य जगत में सर्वदा अभिनन्दनीय मानी गई है। इनमे से 'जुही की कली' तो निराला की श्रेष्ठतम कृति कही जाती है और विचारक उसे हिन्दी काव्य का एक प्रकाशस्तम्भ मानते हुए यही कहते है, 'मुक्त छन्द, ललित भावनाओ की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति और एक अव्यक्त संकेतात्मकता के कारण यह कविता आचार प्रधान, नियमानुशासित, इतिवृत्त प्रधान द्विवेदी युगीन काव्य की विशुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आती है।' यो तो 'जुही की कली' की चर्चा प्रायः प्रत्येक आलोचक ने की है और उसकी निन्दा व प्रशंसा दोनो ही हुई है, पर जैसा कि श्री गंगाप्रसाद पांडेय का कहना है 'सच तो यह है कि रूप-रस-रंग और प्राणमय यह कविता छायावाद की स्थापना का उद्घोष है। इस युग की सम्पूर्ण कलात्मकता इसमें ध्वनित है।.... जुही की कली मे व्यापक अनुभूति के साथ प्रकृति के माध्यम से कला का

श्रृंगार किया गया है, किन्तु उस समय किसी ने इसकी महत्ता को नही समझा। कोई आलोचक भी सामने नही आया और प्रशंसा की अपेक्षा निराला को ऐसी कविताओं को लिखने का कलंक ही मिलता रहा।' इस प्रकार सन १६१६ में प्रकाशित 'जूही की कली' निराला की ही नही, अपितु समग्र हिन्दी काव्य साहित्य की निर्विवाद रूप से युगान्तरकारी कृति है। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि अनामिका मे संग्रहीत कविताएँ नवीन कला-विधान एवम् मुक्त छन्दों की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है और हिन्दी काव्य मे मुक्त छन्दो को प्रारम्भ करने का श्रेय निरालाजी को ही मिलना चाहिए।

सन १६२६ मे निरालाजी का दूसरा कविता-संग्रह 'परिमल' प्रकाशित हुआ और 'जिस प्रकार आँसू से प्रसाद को, पल्लव से पन्त को काव्य-प्रतिष्ठा मिली, उसी प्रकार से परिमल ने निराला को हिन्दी का श्रेष्ठ कवि बना दिया।' परिमल मे अनामिका की कई कविताओ के साथ-साथ अनेक नवीन काव्य-रचनाएँ भी संकलित है और छायावादी काव्य-चेतना के साथ-साथ वह राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व करने मे भी सक्षम रहा है; क्योकि उसमे राष्ट्र की नवीन आशा-आकांक्षाओं को भी वाणी दी गई है। 'परिमल' तीन खंडों मे विभाजित है। प्रथम मे मौन, खेवा, निवेदन, प्रार्थना, खोज, उपहार, प्रभाती, शेष, पतनोन्मुख, गीत, यमुना के प्रति, युक्ति, परलोक, प्रिया, जलद के प्रति, तुम और मै, जागो, वसन्त समीर, प्रथम प्रभात, क्या दूँ, माया, आध्यात्म फल, गीत, आदान, प्रदान, गीत, गीत एवम् स्मृति नामक तैतीस कविताएँ है। द्वितीय खंड मे भर देते हो, स्वागत, ध्वनि, उसकी स्मृति, अधिवास, विधवा, पहचानो, कविता, भिक्षुक, संध्यासुन्दरी, शरत्पूर्णिमा की विदाई, अजलि, दीन, धारा, आवाहन, वन कुसुमों की शय्या, रास्ते के फूल से, स्वप्न, स्मृति, वह, विफल वासना, विस्मृत भोर, प्रपात के प्रति, सिर्फ एक उन्माद, कण, आग्रह व बादल राग शीर्षक क्रमशः छह कविताएँ प्रभृति कुल इकतीस काव्य-रचनाएँ संकलित है। इसी प्रकार तृतीय खंड मे जुही की कली, जागृति मे सुप्ति थी, शेफालिका, 'जागो फिर एक बार' शीर्षक दो कविताएँ; कवि, स्मृति, चुम्बन, महाराज शिवाजी का पत्र, पचवटी शीर्षक पाँच कविताएँ और जागरण नामक कुल चौदह कविताएँ संग्रहीत है। इस प्रकार 'परिमल' मे संगृहित अठहत्तर कविताओ का वर्गीकरण प्रार्थना परक कविताएँ, प्रकृति सम्बंधी कविताएँ, प्रेम विषयक कविताएँ, नारी सौन्दर्य विषयक कविताएँ, देश-प्रेम सम्बधी कविताएँ, आध्यात्मिक कविताएँ और समाज विषयक कविताएँ नामक आठ वर्गो मे किया जाता है। साथही इन वर्गो से यह भी स्पष्ट है कि 'परिमल' मे निराला की बहुस्पर्शिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं और उसे कवि का प्रतिनिधि काव्य संकलन ही समझना चाहिए।

लगभग सात वर्ष पश्चात् निराला के एक सौ एक गीतो का संकलन 'गीतिका' नाम से प्रकाशित हुआ और विचारक इसे भी हिन्दी साहित्य मे एक महान परिवर्तन प्रस्तुत करनेवाली कृति मानते हैं तथा सुप्रसिद्ध कवि श्री जय-शंकर 'प्रसाद' ने गीतिका का परिचय देते हुए कहा है 'गीतिका हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रो की रेखाएँ पुष्ट, वर्णो का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यजना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक, उन्ही के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नही समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदंड नहीं है। निरालाजी ने कोमलता और ओज, सौन्दर्य भावना और कोमल कल्पना का जो माधुर्य्यमय संकलन किया है, वह उनकी कविता मे शक्ति-साधना का उज्ज्वल परिचायक है।' वस्तुत. 'गीतिका' गीति साहित्य का एक सर्वथा नवीन प्रयोग है और उसमे भाव एवम् संगीत की धाराएँ एक नवीन पद्धति पर प्रवाहित होती है तथा कुछ विचारक तो निराला की गीतिका को सगीत के क्षेत्र मे भी एक नूतन प्रयोग मानते हुए निराला को सगीत की एक नवीन अन्विति का प्रारम्भकर्ता बतलाते हुए किसी प्रचलित नामावली के अभाव मे उसे 'निराला संगीत काव्य' ही कहते है। इस प्रकार 'गीतिका' को नए प्रयोगो से युक्त ही समझना चाहिए और उसके गीतो मे भाव, सगीत व विचार का अद्भुत संगम है तथा इसे कोई भी अस्वीकार नही कर सकता कि 'गीतिका' के गीतो मे भावाविष्ट करने की अपूर्व क्षमता है।

सन १९३८ मे निराला की 'अनामिका' का द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ, पर यह पहले संस्करण से सर्वथा भिन्न था और इसमे उसकी कोई भी कविता न होने के कारण कुछ समीक्षक इसे अनामिका (द्वितीय भाग) भी कहते है, पर स्वयं कवि ने इसका नामकरण 'अनामिका' ही किया है। इसमे कोई सदेह नही कि यह काव्यकृति कवि की प्रौढता का पूर्ण परिचय देती है और श्री धनंजय वर्मा के कथनानुसार 'अनामिका निराला का प्रतिनिधि काव्य संग्रह है, उसी अर्थ मे जिस अर्थ मे प्रसाद की कामायनी। यहाँ मेरा तात्पर्य अनामिका और कामा-यनी की समता या तुलना का नही, अपितु काव्य जीवन मे उन ग्रन्थों के महत्व का है। जिस तरह प्रसाद की स्थायी कीर्ति का स्तम्भ कामायनी है उसी तरह निराला की स्थायी कीर्ति अनामिका से मानी जाएगी। इसका कारण यही है कि यहाँ निराला का कवि व्यक्तित्व चेतना के इतने विभिन्न स्तरों और आयामो में अभिव्यक्त होता है, जिसने एक ऐसी स्वाधीन चेतना का विकास किया है जो जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को छू सकती है। निराला उन्मुक्त होकर विस्तृत, व्यापक और विराट की साधना करते है। अब तक उनकी काव्य, कला, अनुभूति

और अभिव्यक्ति पूर्ण प्रौढ़ हो चुकी है। यहाँ आकर स्वच्छन्दतावादी काव्य और निराला अपना उन्मुक्त आत्मप्रसार करता है। सम्पूर्ण निराला अनामिका में देखे जा सकते है।' श्री धनंजय वर्मा के कथन का अभिप्राय यह नही है कि 'अनामिका' द्वितीय संस्करण के पूर्व और पश्चात् की निराला की काव्यकृतियाँ कोई महत्व नही रखती बल्कि वह तो यही सिद्ध करना चाहते हैं कि समस्त दृष्टियो से 'अनामिका' निराला का ही नही पूरे स्वच्छन्दतावादी युग का प्रतिनिधि काव्य संकलन है।

'अनामिका' के द्वितीय सस्करण मे प्रेयसी, प्रेम के प्रति, रेखा, वसंत की परी के प्रति, वारिद वंदना, उत्साह, प्रिया से, कविता के प्रति, मित्र के प्रति, दान, वह तोडती पत्थर, वन वेला, नर्गिस, सरोज स्मृति व राम की शक्तिपूजा आदि कई उल्लेखनीय कविताओ के साथ-साथ 'गीतिका' की भाँति चौदह गीत भी संकलित हैं, जो कि शीर्षकबद्ध है। साथ ही उसमे रवीन्द्र और विवेकानन्द की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी संग्रहीत है पर उनमे भी कवि निराला की स्वतन्त्र काव्य-प्रतिभा के ही दर्शन होते है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्यकृति मे विषय विविधता, कलागत विशिष्टता और कवि कर्म के प्रति सचेत जागरूकता है तथा समीक्षक उचित ही कहते है 'कल्पना और व्यक्त-अव्यक्त सूक्ष्म सौन्दर्य के चित्रकार सृष्टा कवि से लेकर गीतकार, अद्वैतवादी दार्शनिक, रहस्यवादी कवि, प्रगतिशील तत्त्वो और यथार्थवादी शैली के कवि तथा सास्कृतिक कलाकार के इन परिवेशो के साथ महत् कार्य के औदात्य से समन्वित रचनाओं के कारण ही हम 'अनामिका' को निराला का प्रतिनिधि काव्य संग्रह कहते है।'

'अनामिका' के द्वितीय संस्करण के पश्चात निराला की एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण काव्यकृति 'तुलसीदास' प्रकाशित हुई और केवल सौ छन्दो का यह काव्य छायावादी काव्य कला का चरम परिष्कार कहलाता है तथा विचारको का यही कहना है कि 'छायावादी काव्य की एक चरम परिणति कामायनी है, दूसरी तुलसीदास। कामायनी और तुलसीदास के रूप मे छायावादी कला को दो प्रबन्ध काव्य की उपलब्धि हुई है। तुलसीदास व्यक्ति अन्तर्मन का मनोवैज्ञानिक भूमि पर विश्लेषण और इतिहास के परिपार्श्व मे सास्कृतिक अध्ययन है। साथही प्रकृति के सूक्ष्म व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यत्मिक सत्ता का दर्शन।' निराला ने तुलसीदास मे मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर एक नवीन दृष्टि डाली है और इस काव्यकृति के नायक तुलसीदास का मानसिक आन्दोलन इन चार आधारो या आन्दोलनों पर स्थिर है—हिन्दुओ का या भारतीयों का सांस्कृतिक पतन, प्रकृति की रमणीय छटा, पत्नी के प्रति रति और जगत् या राम के प्रति उन्मुखता। 'तुलसीदास' मे कथा और चरित्र-चित्रण विषयक नवीनताओ के

साथ-साथ युगीन प्रभाव एवम् उसकी व्यंजना भी देखी जा सकती है। साथ ही इस चिन्तन प्रधान दार्शनिक भावपूर्ण काव्य में एक स्थान पर प्रत्यक्ष ही पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति व्यंग्य व शोषण के प्रति कवि का तिरस्कार व्यक्त हुआ है—

> वह रंक यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे
> चाहिए उसे और भी और
> फिर साधारण को कहाँ ठौर !

सन १९४२ मे प्रकाशित निराला की काव्यकृति 'कुकुरमुत्ता' को व्यंग्य (Satire) काव्य कहा जाता है और डॉ. रामविलास शर्मा के कथनानुसार ऐसा 'शिष्ट व्यंग्य, सच्ची अंतर्व्यथा से निकला हुआ, जो पढ़ते ही सहृदय को प्रभावित भी कर सके, साहित्य में बहुत कम देखने को मिलता है !' डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल ने तो आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध मे प्रगति का इतिहास कुकुरमुत्ता से ही माना है। वस्तुतः 'कुकुरमुत्ता' मे निरालाजी की कुकुरमुत्ता, गर्म पकौड़ी, प्रेम सगीत, रानी और कानी, खजोहरा मास्को डायलाग्ज एवम् स्फटिक शिला नामक सात कविताएँ संग्रहीत है तथा वह सभी कविताएँ प्रतीको के माध्यम से साधारण जन जीवन की व्याख्या करने के कारण प्रगतिवादी भी कहलाती है। इस प्रकार 'कुकुरमुत्ता' मे गुलाब पूजीवाद या शोषक और कुकुरमुत्ता जन साधारण या शोषित का प्रतीक है तथा उसमे जीवन के विविध पार्श्वों पर व्यंग्य किया गया है।

'कुकुरमुत्ता' के पश्चात निराला की 'अणिमा' प्रकाशित हुई और उसमें उनकी सन १९३९–४३ के मध्य [लिखी गई स्फुट कविताएँ संग्रहीत हैं तथा वह कवि-व्यक्तित्व के विविध रूपो की अभिव्यक्ति करती हैं। इस प्रकार 'अणिमा' मे 'एक ओर विषाद, निराशा के स्वर हैं, रहस्य, आलोक और भक्ति का प्रश्रय है तो दूसरी ओर समाज के विद्रूप और विकलांग पर प्रहार है। एक ओर अतीत का लेखा-जोखा है, आत्मपरिचय है, तद्रूप सन्तोष है, साहित्यिक बन्धुओ का प्रशस्ति अंकन है; दूसरी ओर विशृंखलता, असम्बद्धता, अस्पष्टता और भ्रम।' 'अणिमा' में संग्रहीत रचनाएँ प्रशस्तिमूलक व श्रद्धांजलि-सम्बन्धी और विविध विषयक नामक दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं। इनमें से व्यक्ति विशेष पर लिखी गई प्रशस्तिमूलक रचनाओं को हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा नवीन वस्तु समझा जाता है और वह कवि की गुण ग्राहकता व हृदय की विशालता का बोध कराने में सक्षम भी रही हैं। इनमे से सन्त कवि रविदास, भगवान बुद्ध, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर 'प्रसाद', महादेवी वर्मा, विजयलक्ष्मी पंडित और स्वामी प्रेमानन्द आदि पर लिखी गई कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार विविध विषयक कविताओं में से कुछ तो दीर्घ और लघु कविताएँ हैं तथा कुछ

गीत पर 'अणिमा' की समस्त काव्य रचनाओ मे 'सहस्त्राब्दि' ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें विक्रम के १००० संवत् तक के भारतीय इतिहास व संस्कृति का ओजस्वी वर्णन किया गया है और ऐतिहासिक चेतना व राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति से वह ओतप्रोत भी है।

यद्यपि सन १९४३ के लगभग निरालाजी 'वेला' नामक काव्य-संकलन की रचना कर चुके थे पर उसका प्रकाशन कुछ विलम्ब से हुआ और 'वेला' में कुछ स्वतन्त्र गीतो के अतिरिक्त अधिकतर उर्दू के अनुसरण मे गजल शैली की रचनाएँ हैं तथा उर्दू काव्य की अलंकृतियों और मुहावरों का भी अधिकाधिक प्रयोग होने के कारण 'वेला' को एक नए प्रयोग के अतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता। उसका एक उदाहरण दर्शनीय भी है—

चढ़ी है आँखे जहाँ की उतार लायेगी।
बढ़े हुओ को गिराकर सँवार लायेगी।

सन् १९४६ मे निराला का एक अन्य काव्य संकलन 'नये पत्ते' प्रकाशित हुआ जिसमे कुछ नवीन कविताओ के साथ-साथ 'कुकुरमुत्ता' मे सकलित सात काव्य रचनाओ को भी संग्रहीत कर दिया गया और हमे 'नये पत्ते' में कवि की काव्यचेतना के सामाजिक, वाह्योन्मुखी व समाज शास्त्रीय नामक विविध रूप दीख पड़ते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि 'नये पत्ते' मे नये प्रयोग और नई काव्य भूमियों की शोध है तथा उसे एक ओर तो 'कुकुरमुत्ता' संग्रह की हास्य-व्यंग्यमयी शैली का परिष्कृत रूप कहा जाता है और दूसरी ओर नई दिशा का निखार होने के कारण वह प्रयोगवादी कृति भी मानी जाती है। 'नये पत्ते' में प्रकृति का सर्वथा नवीन चित्रण भी किया गया है और प्रकृति चित्रण में कल्पना का स्वरूप न होकर यथार्थ की सप्राणता ही है। इसीलिए कवि ने सामान्य देहाती घरों के समीप के नीम, बरगद व खेतों के सामान्य और यथार्थ चित्र अंकित करते हुए बैलगाड़ियों का दलदल में फँसना, सियारो की जोड़ी का मिलना व पहाड़ों और नदियों को भी सस्वर रूप दिया है। जैसे—

हरे उस पहाड़ पर
पयस्विनी अर र रर
बहती चली आती है

'नये पत्ते' के पश्चात् साहित्यकार संसद, प्रयाग द्वारा निराला की पूर्ववर्ती काव्य कृतियों मे से कुछ सुन्दर काव्य रचनाओं का चयन कर 'अपरा' नामक काव्यकृति प्रकाशित की गई और विचारक इसे अपने ढंग का अकेला काव्य संकलन मानते हुए यही कहते हैं, 'अपरा में निराला के काव्य-व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा भाग संकलित है' पर स्वयं निराला ने एक स्थान पर अपरा को अपूर्ण माना

है। यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वयं निरालाजी 'अपरा' में कुकुरमुत्ता को भी संकलित करना चाहते थे, पर श्रीमती महादेवी वर्मा ने उसे संकलित करना पसन्द नहीं किया।

'अपरा' के पश्चात क्रमशः सन् १९५० और सन १९५३ में निराला के दो काव्य संग्रह 'अर्चना' और 'आराधना' नामक प्रकाशित हुए जिन्हे कि हिन्दी गीति काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया जाता है तथा जिनमें कवि की गीत सृष्टि का दूसरा मोड़ मिलता है। वस्तुतः कवि अब 'बेला' की गजल शैली और 'नए पत्ते' के सामाजिक व्यंग्यो को पार कर आत्मगत होता जान पड़ता है तथा एक विचारक के कथनानुसार 'कवि उच्च और उदात्त भावाभिव्यक्ति के लिए कोई विशाल चित्र नही लेता, सूक्ति रूप में अल्प चित्र में ही सब कुछ कह देता है। यहाँ निराला की कला में प्रयत्न लाघव का समावेश होता है। यह काव्य की नई भूमि है। कुछ पंक्तियों और अल्प परिवेश में भी महती कल्पना और औदात्य का समावेश हो सकता है, यह 'अर्चना' और 'आराधना' के लघु-लघु गीत प्रमाणित करेंगे।' इस प्रकार इन दोनों काव्य संकलनो को निराला काव्य का एक और नया आयाम ही समझना चाहिए तथा इसमें कोई संदेह नही कि कलागत विशिष्टताओं की दृष्टि से भी 'अर्चना' व 'आराधना' के गीत सराहनीय हैं,क्योंकि उनमें भाषा को भी नया मोड़ दिया गया है। लोक जीवन में फैले हुए सुन्दर और अर्थव्यंजक शब्दो का प्रयोग इसके पूर्व नही दीख पड़ता।' हम यहाँ यह भी मानते हैं कि 'अर्चना' व 'आराधना' में कतिपय अटपटे भावों और शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, पर इसे कवि की मानसिक विश्रांति की अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए तथा ऐसे प्रसंग अपवाद स्वरूप ही हैं।

सन १९५४ में निराला का अन्तिम काव्य संग्रह 'गीत गुंज' प्रकाशित हुआ और 'अर्चना' व 'आराधना' की भाँति उसमें भी संकलित कविताएँ कवि की आत्मसमर्पण या प्रपत्ति भावना की प्रतिनिधि हैं, जो सम्भवतः कवि के बढ़ते हुए शारीरिक व मानसिक विकारो के रूप मे लिखी गई हैं—

> सुख का दिन डूबे डूब जाय
> तुमसे न सहज मन ऊब जाय।

और भी—

> पार पारावार जो है, स्नेह से मुझको सिखा दो
> रीति क्या, कैसे नियम, निर्देश कर करके सिखा दो

यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो 'गीत गुंज' के सभी गीतो में प्रकृति सौन्दर्य के प्रति कवि का अनूठा आकर्षण भी दीख पड़ता है और भाषा की सरलता अनुप्रासों का आधिक्य, नए व सटीक मुहावरे जो कि निराला की परवर्ती कविताओं

में बहुतायत से पाए जाते हैं, गीत गुंज में भी विद्यमान हैं अतः निराला के इस अन्तिम काव्य संकलन का भी अपना स्थायी महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनामिका, प्रथम संस्करण से गीत गुंज तक निराला की काव्य-साधना निरंतर शृंखलाबद्ध रूप में विकसित होती रही है पर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि निराला का बहुत-सा साहित्य अभी तक अप्रकाशित है और उनके अन्तिम वर्षों के पचास से अधिक गीत तो हस्तलिखित रूप में ही हैं। इतना होते हुए भी हम यहाँ यह कह सकते हैं कि निराला का प्रकाशित काव्य साहित्य ही उन्हें युगों तक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में सक्षम रहेगा और इसीलिए समीक्षक निराला को शताब्दी का कवि तथा उनके काव्य को शताब्दी का काव्य मानते हैं। एक विद्वान ने उचित ही कहा है 'निराला काव्य की रचनाएँ साहित्यिक इतिहास की स्थायी निधियों में परिनिष्ठित होंगी और साहित्यिक अमरता की प्रतीक बनेंगी।'

बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब'

वस्तुत: श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी' बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं और उन्होने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, संस्मरण, यात्रा साहित्य, रेखाचित्र व निबन्ध आदि विविध साहित्य-रूपो को अपनी लेखनी से अलंकृत कर यह सिद्ध कर दिया है कि वह न केवल सफल कवि हैं अपितु उत्कृष्ट गद्यकार भी है। उनकी गद्य-साधना का सम्यक् परिचय कुछ थोड़े से पृष्ठों मे नही दिया जा सकता क्योकि उनकी बहुसंख्यक गद्य-रचनाओ का सक्षिप्त परिचय देने के लिए अच्छी खासी पुस्तक लिखनी होगी अत: हम यहाँ उनकी एक उत्कृष्ट कृति 'गेहूँ और गुलाब' का सक्षिप्त पर सम्यक् मूल्याकन करते हुए यहाँ हिन्दी गद्य साहित्य को उनकी देन स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगे।

यद्यपि बेनीपुरीजी ने 'गेहूँ और गुलाब' के मुख-पृष्ठ पर अपनी इस कृति को शब्दचित्र घोषित किया है और प्रारंभिक निवेदन मे उन्होंने इसे शब्दचित्रों का सकलन ही माना है तथा कालातर मे जब 'बेनीपुरी ग्रंथावली' का पहला खंड प्रकाशित हुआ तब उसमे भी 'गेहूँ और गुलाब' को शब्दचित्र ही कहा गया है। इस प्रकार गेहूँ और गुलाब को शब्दचित्र—जिसका कि रेखाचित्र नाम अधिक प्रचलित है--नामक साहित्यिक विधा के अतर्गत रखना ही समीचीन होगा पर हमारे यहाँ विचारको ने उसका परिचय देते हुए उसे भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओ मे स्थान दिया है अत हम यहाँ सर्वप्रथम उन विचारको के मतो का मूल्याकन करना आवश्यक समझते है।

अपनी 'हिन्दी निबन्धकार' नामक कृति मे डॉ. जयनाथ 'नलिन' ने श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी' के निबन्ध-कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए 'गेहूँ और गुलाब' को भावात्मक निबन्धो का सकलन माना है तथा डॉ. गोपीनाथ तिवारी ने 'साहित्य सरोवर' नामक अपने निबन्ध-सग्रह में आधुनिककालीन हिन्दी निबन्ध साहित्य का विकास स्पष्ट करते हुए बेनीपुरीजी को भावात्मक निबन्धकारो मे स्थान प्रदान करते हुए उनकी 'गेहूँ और गुलाब' को भावात्मक निबन्धो का संकलन ही कहा है। इसी प्रकार डॉ ब्रह्मदत्त शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य मे निबन्ध' नामक कृति मे बेनीपुरीजी को भावात्मक निबन्धकारो मे स्थान प्रदान करते हुए एक ओर तो यह कहा है कि 'गेहूँ और गुलाब' मे सस्मरण तथा रेखाचित्र सगृहीत है और दूसरी ओर वह यह भी कहते है कि "गेहूँ और गुलाब के अधिकाश निबन्धो मे सस्कृति का उद्घाटन प्रतीकात्मक ढग से किया गया है" अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह 'गेहूँ

और गुलाव' मे संगृहीत रचनाओ को निबंध ही मानते है। साथही डॉ. प्रभाकर माचवे ने 'गेहूँ और गुलाब' को सुन्दर संस्मरणो एवम् छोटे छोटे शब्दचित्रो का संकलन मानते हुए भी बेनीपुरीजी के सम्बन्ध मे यह कहा है कि "वे रेखाचित्र और संस्कारनुमा निबन्ध लिखने में बहुत ही सिद्धहस्त है" अतः इससे यही जान पड़ता है कि वह शब्दचित्र या रेखाचित्र को निबन्ध के अंतर्गत ही मानते है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि डॉ माचवे की भाँति कुछ अन्य समीक्षको ने भी संस्मरण और शब्दचित्र या रेखाचित्र को निबन्ध के अतर्गत ही माना है तथा डॉ. शंकरदेव अवतरे ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य मे काव्य रूपो के प्रयोग' मे स्पष्टतया निबन्ध परिवार के अतर्गत संस्मरण और रेखाचित्र की गणना की है। वास्तव मे निबन्ध, संस्मरण और रेखाचित्र या शब्दचित्र तीनो ही सर्वथा पृथक् पृथक् स्वतंत्र विधाएँ है। इतना ही नही डॉ बलवत लक्ष्मण कोतमिरे ने भी अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपो का उद्भव और विकास' के पाँचवे अध्याय मे निबन्ध साहित्य का विकास स्पष्ट करते हुए निबन्धो के ही अंतर्गत संस्मरणों और रेखाचित्रो की गणना की है तथा वह यह भी कहते है कि "रामवृक्ष बेनीपुरी के माटी की मूरते तथा गेहूँ और गुलाब निबन्ध संग्रहो मे बहुत अच्छे रेखाचित्र मिलते है।" इसी प्रसग मे हमे श्री शिवदानसिह चौहान की 'हिन्दी साहित्य मे अस्सी वर्ष' नामक कृति के इस कथन को भी स्मरण रखना चाहिए कि "रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्र भी निबन्धो की श्रेणी मे रखे जा सकते है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री. शिवदानसिह चौहान 'गेहूँ और गुलाब' को निबन्ध-संग्रह मानना ही अधिक समीचीन समझते है। इसी प्रकार डॉ. अष्टभुजा प्रसाद पांडे ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी गद्य काव्य : उद्भव और विकास' मे बेनीपुरीजी की 'माटी की मूरतें' नामक कृति को रेखाचित्र मानते हुए भी उसे गद्यकाव्य की आभा से आलोकित माना है पर अपने इस शोध-प्रबन्ध के सातवे अध्याय मे 'विशिष्ट कलाकार' शीर्षक के अतर्गत श्री. रामवृक्ष 'बेनीपुरी' के कृतित्व पर विचार करते समय उनकी 'गेहूँ और गुलाव' की ही विवेचना की है अतः इससे स्पष्ट है कि वह इसे गद्यकाव्य के अतर्गत स्थान प्रदान करने के पक्ष मे है।

चूंकि कुछ विचारको ने शब्दचित्र या रेखाचित्र को कहानी के अंतर्गतही स्थान दिया है और डॉ लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियो की शिल्पविधि का विकास' मे स्पष्टतया उसे कहानी की सहायक शैली माना है तथा 'गेहूँ और गुलाव' मे सकलित 'घासवाली' व 'किसको लिख रहे हैं' आदि कुछ रचनाये कहानी के कुछ अधिक समीप जान पड़ने के कारण कतिपय विचारक 'गेहूँ और गुलाब' को शब्दचित्र व कहानी दोनो का संकलन मानने के पक्ष मे है। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने

'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (द्वितीय भाग) और डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने 'हिन्दी गद्य विकास और परम्परा' में 'गेहूँ और गुलाब' को रेखाचित्र या शब्द-चित्र ही माना है तथा वह दोनों ही विद्वान रेखाचित्र या शब्दचित्र को साहित्य की अन्य विधाओं से सर्वथा भिन्न ही मानते है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो रेखाचित्र या शब्दचित्र को निबन्ध या कहानी के अंतर्गत रखना अथवा संस्मरण और गद्य काव्य के अंतर्गत उसका समावेश करना युक्तिसंगत नहीं जान् पड़ता क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से तो रेखाचित्र या शब्दचित्र निर्विवाद रूप से एक पृथक् साहित्यिक विधा ही है और कई विचारकों ने उसे पृथक् साहित्यिक रूप मानकर ही उसका स्वरूप-विश्लेषण किया है तथा श्री. शिवदानसिंह चौहान का तो स्पष्टतया यही कहना है "कला के अन्दर रेखा-चित्र की एक स्वतंत्र सत्ता है, उसे पढ़ने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड़ या प्रवाहों को जानने की आवश्यकता नही रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढ़कर सतुष्ट हो जाता है और चूंकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्य-विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी।" इसी प्रकार डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत का कहना है कि "साहित्य की अन्य विधाओ के सदृश ही रेखाचित्र भी कलाकार की किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना के पूर्व सन्निकर्ष से उद्भूत क्रियाओं और प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति है। किन्तु उसकी शिल्पविधि अपनी स्वतंत्र है। उसकी यह स्वतंत्र शिल्पविधि उसे समकक्ष और सदृश साहित्यिक विधाओ से अलग किये हुए है।' इस प्रकार रेखा-चित्र या शब्दचित्र को अन्य सभी साहित्यिक विधाओ या साहित्य रूपों से पृथक् ही समझना चाहिए और जो विचारक उसे अन्य किसी भी साहित्य विधा के अन्तर्गत मानते हैं वह वास्तव मे उसके प्रति न केवल अन्याय करते है अपितु इस कोटि की रचनाओ के प्रति अपना सही मत भी व्यक्त नहीं कर पाते। संभवतः यही कारण है कि 'गेहूँ और गुलाब' मे सकलित रचनाओ के प्रति समीक्षकों के उद्गारो मे मत-वैपरीत्य देख पड़ता है।

हम यह मानते है कि वैयक्तिकता के कारण अपनी सवेदनाओ के प्रवाह मे शब्दचित्रकार या रेखाचित्रकार की शैली मे गद्यकाव्य का सा प्रवाह आ जाता है और 'बेनीपुरी' की 'गेहूँ और गुलाब' मे सकलित रचनाओ ने भी स्वाभाविक ही कहीं-कहीं अनूठी गद्य-काव्यात्मकता सी दीख पड़ती है; जैसे "चन्द्रमा ऊपर चढ़ता गया। उसी समय सामने का जो पीपल का पेड़ है, उस पर पैर रखती, फिसलती, खिलखिलाती, उठती, हां, पत्तों की मधुर मर्मर ध्वनि उनकी खिलखिलाहट ही तो थी। पीपल के पेड़ का जो हिस्सा चन्द्रमा की ओर था, वहाँ तो यह क्रीड़ा कुतूहल हो रहा था, बाकी हिस्सा वैसा ही स्तब्ध, अन्यमनस्क,

उदास। उस उदासी की पृष्ठभूमि मे यह चकमक, झलमल, मर्मर और भी प्रणोन्मादक लग रहा था। आँखो को इस तरह खीच लिया था इस दृश्य ने कि चाँद की सुध भी भूल गई होती; किन्तु एक-ब-एक अँधेरा होता देख, आसमान की ओर नजर दौड़ाई। अब वहाँ एक अजीम समाँ था। हसकुमार शैवाल जाल मे फँसा है। बादल का न जाने कहाँ से एक टुकडा आकर उसे ढाँपने पर तुला है। हंस के बच्चे की वह बार-बार उस शैवाल जाल को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा कर रहा है। कभी बादल उसे ढँक लेता है, कभी वह उसे चरका देकर निकल भागता है। फिर बादल दौडता है, उसे ढँक लेता है। तब आकाश सागर मे गोते लेकर फिर उससे अलग, दूर जा निकलता है--सद्यस्नात सुन्दर, ताजा चेहरे को चमकाते हुए। बहुत देर तक यह बादल और चन्द्रमा की आँखमिचौनी होती रही। आखिर वायु के एक जबरदस्त झोके ने चन्द्रमा की मदद की। वह बादल का टुकड़ा न जाने कहाँ भगा दिया गया। चाँद ठहाका मार-मारकर हँसता रहा।"

वास्तव मे इस प्रकार के गद्याशो के आधार पर 'गेहूँ और गुलाब' को गद्य-काव्य मानना उचित नही जान पड़ता क्योकि इस प्रकार के अवतरण तो हमे उपन्यास, नाटक और कहानी मे ही नही बल्कि निबंध तक मे दृष्टिगोचर होते है अतः जब हम इन सभी साहित्य रूपो को गद्यकाव्यात्मकता से युक्त होते हुए भी गद्यकाव्य नही मानते तब रेखाचित्र या शब्दचित्र के साथ इस प्रकार का अन्याय करना उचित नही जान पड़ता। स्वय डॉ. अष्टभुजाप्रसाद पाडेय ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी गद्यकाव्य . उद्भव और विकास' मे गद्य साहित्य के विविध रूपो मे गद्यकाव्य के तत्त्वो का निदर्शन कराते समय नाटक, उपन्यास, कहानी, निवध, रेखाचित्र आदि मे गद्यकाव्य के तत्त्वो का सोदाहरण विवेचन करते हुए निष्कर्ष स्वरूप यह भी कहा है कि इन तत्त्वो के होते हुए भी उन्हे गद्य का सुनिश्चित स्वरूप नही प्राप्त हो सका है अत. 'गेहूँ और गुलाब' मे सकलित रचनाओ मे कही-कही गद्यकाव्य की आभा अवश्य स्वीकार की जा सकती है पर 'गेहूँ और गुलाब' को गद्यकाव्य तो कदापि नही कहा जा सकता।

चूँकि बेनीपुरीजी ने अपने 'माटी की मूरते' नामक शब्दचित्र संग्रह की भूमिका मे यह स्वीकार किया है कि "हजारीबाग सेट्रल जेल के एकात जीवन मे अचानक मेरे गाँव और मेरी ननिहाल के कुछ ऐसे लोगो को सूरते मेरी आँखो के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण करने लगी" अतः 'माटी की मूरते' के रेखाचित्र सस्मृत व्यक्तियो के ही कलात्मक रूप जान पडते है लेकिन यहाँ यह न भूलना चाहिये कि संस्मरण और शब्दचित्र या रेखाचित्र दोनो सर्वथा पृथक्-पृथक् विधाएँ है। वस्तुत रेखाचित्र या शब्दचित्र चारित्रिक चित्र होता है पर सस्मरण

केवल चित्र मात्र न होकर, न केवल चरित्र का दर्पण भी होता है और उसमें रेखाचित्र या शब्दचित्र की भाँति केवल कुछ प्रमुख रेखाओं को उभार कर ही संतोष नहीं कर लिया जाता अपितु सम्पूर्ण परिस्थिति का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से वर्णन भी किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि 'गेहूँ और गुलाब' में चाहे कहीं कहीं यदा कदा संस्मरण तत्त्व दीख पड़ता हो पर उस कृति को संस्मरण कदापि नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमे संकलित रचनाओं में तो लेखक ने कहीं भी व्यक्तियों की विशिष्टताओं को यथातथ्य रूप में अभिव्यक्त करने की ओर ध्यान नहीं दिया तथा वस्तु, व्यक्ति या घटना के सुविधानुसार शब्दचित्र ही प्रस्तुत किये हैं।

वस्तुतः रेखाचित्र या शब्दचित्र और कहानी मे बहुत कुछ समानता ही है और दोनों का ही आकार लघु होता है तथा कम से कम शब्दों मे अधिक से अधिक उद्‌गार व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है। इसी प्रकार दोनों मे ही लेखक वर्णन या कथोपकथन का आश्रय लेते हैं और किसी एक वस्तु, व्यक्ति या संवेदना को लेकर चलते हैं अतः कभी-कभी दोनों मे अंतर स्थापित कर उन्हे पहचानना मुश्किल पड़ जाता है तथा श्रीमती महादेवी वर्मा की 'बीसा' नामक रचना को रेखाचित्र या शब्दचित्र न मानकर कहानी कहा जाता है। इसी प्रकार बेनीपुरीजी की 'गेहूँ और गुलाब' मे संगृहीत 'घासवाली' तथा 'किसको लिख रहे हैं' रचनाओं को पढ़-कर कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो किसी कहानी का अध्ययन किया जा रहा हो पर यह भ्रांति केवल इसीलिए होती है कि हमे यह ध्यान नहीं रहता कि रेखाचित्र या शब्दचित्र और कहानी के न केवल शिल्प-विधान मे अंतर है अपितु दोनों के उद्देश्य मे भी भिन्नता है। वस्तुत "कहानी का लक्ष्य अधिकतर मनोरंजन होता है। कभी-कभी उसके माध्यम से कलाकार किसी सत्यखंड की अभिव्यक्ति भी करता है। किन्तु रेखाचित्र के सामने यह दोनों लक्ष्य ही गौण रहते हैं। उसका प्रमुख लक्ष्य होता है—चरित्र विशेष के बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही के मार्मिक एवम् संवेदनशील तत्त्वों को उभारकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देना। किन्तु वह यह कार्य तटस्थ भाव से नहीं करता। उसके चित्रण, उसकी अनुभूतियों और मान्यताओं के रंग मे रंगे रहते हैं।" इसी प्रकार दोनों के कला रूप मे भी अंतर है और "कहानी केवल श्रव्य काव्य है। वह केवल पढ़ी और सुनी जाती है। इसके विपरीत रेखाचित्र पाठक के मन रंगमंच पर स्वयं अभिनीत होनेवाला दृश्य काव्य है। कहानी मे या तो कहानीकार बोलता है या पात्र। किन्तु रेखाचित्र मे अधिकतर कलाकार का इस प्रकार मुखरित होना वास्तव मे रेखा-चित्र का ही मुखरित होना है। रेखाचित्र की यह मूक मुखरता ही उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। इसने इसे नाटक के समकक्ष स्थान दिला दिया। ..कहानी

की अभिव्यक्ति मे सरलता की मात्रा अधिक पाई जाती है। एक का प्राण उसका प्रवाह चैतन्य है जो पाठको की जिज्ञासा को परितृप्त करता हुआ दूर तक बहा ले जाता है। इसके विपरीत दूसरे का वैभव उसकी मूर्तिमत्ता है जो पाठक या दर्शक की अनुभूति को भाव विभोर कर मुग्ध कर देती है।" इस प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' मे सगृहीत कुछ रचनाओ मे कथात्मकता की झलक मिलने का अभिप्राय यह नही है कि हम उन कृतियो को कहानी समझ बैठे क्योकि उनमे न केवल कहानी के समस्त विधायक तत्वो--कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल और वातावरण तथा भाषाशैली और उद्देश्य--का सम्यक् निर्वाह नही हुआ है अपितु उनमे कहानियो का सा सम्यक् प्रवाह भी नही है अतः 'गेहूँ और गुलाब' को कहानी की कोटि मे रखना युक्तिसगत नही जान पडता।

जब हम निबन्धात्मकता की दृष्टि से 'गेहूँ और गुलाब' का मूल्यांकन करना चाहते है तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस ओर जाना है कि अधिकाश विचारको ने निबन्ध के निम्नाकित चार प्रकार मानना ही युक्तिसगत समझा है। देखिए--(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays) (२) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative Essays) (३) विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध (Reflective Essays) और (४) भावात्मक निबन्ध (Emotional Essays) इनमे से भावात्मक निबन्धो के अतर्गत ही 'गेहूँ और गुलाब' की गणना की जाती है पर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि "भावात्मक निबन्धो मे बुद्धि की अपेक्षा हृदय का अधिक योग रहता है। इनमे पहले भाव, फिर कल्पना तत्पश्चात् विचार-तत्त्व का स्थान है। इनमे भावो की अभिव्यजना के लिए भाषा का लाक्षणिक प्रयोग ऐसे अनूठे ढग से किया जाता है कि उनमे भाव और भाषा का अनुपम सौन्दर्य उपस्थित हो जाता है। ये इतने प्रभावपूर्ण होते हैं कि इनके द्वारा हृदय मे भावो का उद्रेक उस सीमा तक हो जाता है, जहाँ पाठक अथवा श्रोता को रसानुभूति होने लगती है। इनमे मानव जीवन को प्रभावित करने की वही शक्ति होती है जो किसी समाज अथवा जाति के शुभचिन्तक कवि की रचना मे मिलती है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावात्मक निबन्धो मे भावावेश के कारण भावोद्गारो की अभिव्यजना ही अधिक की जाती है और रागात्मकता की अधिकता के कारण वह कवित्वपूर्ण निबन्ध भी कहलाते है परन्तु उन्हे जिस प्रकार गद्यगीत या गद्यकाव्य नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उन्हे रेखाचित्र या शब्दचित्र भी नही कहा जा सकता। डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य मे निबन्ध' मे 'गेहूँ और गुलाब' को भावात्मक निबन्धो की कोटि मे रखा है पर वह स्वय भावात्मक निबन्ध और गद्यकाव्य को पृथक्-पृथक् विधाएँ

मानते हैं अतः जब गद्यकाव्य भावात्मक निबन्ध से पृथक् स्वतंत्र साहित्यिक विधा है तब रेखाचित्र को पृथक् साहित्यिक विधा न मानना उसके प्रति अन्याय ही होगा। वस्तुत: भावात्मक निबन्धों में भी जीवन या जगत की किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति लेखक की निजी अनुभूतियाँ वर्णनात्मक शैली में ही अभिव्यक्त की जाती है पर रेखाचित्र या शब्दचित्र में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति चित्र या मूर्त रूप में ही की जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यही देखते हैं कि 'गेहूँ और गुलाब' में सर्वत्र रूपविधान या चित्रमयता की ही प्रधानता रखी गई है तथा लेखक ने शब्दों द्वारा अपने अभीष्ट व्यक्ति या वस्तु के रूप और भाव का चित्र-सा खींच दिया है। अतएव चित्रण की प्रधानता को देखते हुए और वर्णनात्मकता की न्यूनता को लक्ष कर 'गेहूँ और गुलाब' को रेखाचित्र या शब्द-चित्र मानना ही उचित होगा तथा उसे निबन्ध की कोटि में तो रखा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार हम 'गेहूँ और गुलाब' को शब्दचित्र ही मानते हैं तथा शब्दचित्र की कसौटी पर कसते हुए उसका यहाँ विश्लेषणात्मक परिचय देंगे।

'गेहूँ और गुलाब' का प्रथम संस्करण सन् १९५० में प्रकाशित हुआ था और उसमें गेहूँ और गुलाब, जहाज जा रहा है, चरवाहा, फुलसुंघनी, तितलियाँ, नथुनिया, नींव की ईंट, पुरुष और परमेश्वर, ये मनोरम दृश्य, मीरा नाची रे, डोमखाना, चक्के पर, रोपनी, पनिहारिन, बचपन, किसको लिखते हैं, छब्बीस वर्ष बाद, पहली वर्षा तथा लागल करेजवा में चोट नामक कुल उन्नीस रचनाएँ संकलित थीं। यह संस्करण जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता द्वारा अत्यधिक आकर्षक ढंग से प्रकाशित किया गया था और पुस्तक का बहिरंग अत्यंत भव्य एवम् प्रभावशाली था। तीन वर्ष पश्चात् 'गेहूँ और गुलाब' का दूसरा संस्करण मलयज प्रकाशन, पटना से प्रकाशित हुआ और उसमें गेंदा, हरसिंगार, गुलाब, कंजरों की दुनिया, गोशाला व घासवाली नामक छह रचनाएँ जोड़कर कुल संख्या पचीस कर दी गयी। यह संस्करण सीधे सादे ढंग से ही प्रकाशित किया गया है पर इसमें प्रत्येक रचना के साथ सुविधानुसार आकर्षक रेखाचित्र भी दे दिये गये हैं अतः प्रत्येक रचना का आकर्षण बढ़ गया है। अब इसी संस्करण को मान्यता प्राप्त है और इसी के अन्यान्य संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं तथा यही संस्करण 'गेहूँ और गुलाब' नाम से 'बेनीपुरी ग्रंथावली' के प्रथम खंड में भी संकलित है। इस प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' में कुल पचीस शब्दचित्र इस क्रम से दिये गये हैं—
१. गेहूँ और गुलाब २. जहाज जा रहा है ३. चरवाहा ४ फुलसुंघनी ५. तितलियाँ ६. नथुनिया ७. नींव की ईंट ८ गेंदा ९ हरसिंगार १०. गुलाब ११. पुरुष और परमेश्वर १२ ये मनोरम दृश्य १३. मीरा नाची रे १४. डोमखाना १५. कंजरों की दुनिया १६. चक्के पर १७. गोशाला १८. रोपनी १९. घासवाली

२०. पनिहारिन २१. बचपन २२. किसको लिख रहे है २३. छब्बीस साल बाद २४. पहली वर्षा २५. लागल करेजवा मे चोट ।

वस्तुतः 'गेहूँ और गुलाब' का समर्पण भी अत्यत आकर्षक और प्रभावोत्पादक है तथा लेखक के प्रगतिशील दृष्टिकोण का द्योतक है क्योकि उसमे लेखक ने यही कहा है "उन हाथो मे जिनकी हथेलियो में दिमाग और अंगुलियो मे आँखे हों और जिनकी कलाइयो मे किसी प्रकार की जंजीर न हो ।" इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने 'पुस्तक-आदोलन' शीर्षक से जो भूमिका दी है उसमे अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया है अतः पुस्तक का मूल्याकन करते समय उसके इस दृष्टिकोण से परिचित होना आवश्यक समझ कर उसे यहाँ उद्धृत भी किया जा रहा है; देखिए--

"यह पुस्तक है और आदोलन भी ।

पुस्तक, जिसमे मेरी कुछ नई कृतियाँ सगृहीत है । मुख्यतः शब्दचित्र : जिनके लिए मुझे अनायास प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है ।

ये शब्दचित्र, पिछले शब्दचित्रो से भिन्न है--छोटे, चलते, जीवन्त । मैंने कहा--हैड कैमरा के स्नैप शाट; आलोचक ने उस दिन डॉटा--हाथी दॉत पर की तस्वीरे ।

इतनी हिम्मत नही कि आमीन कहूँ । आप ही देखे, दोनो मे कौन है ये ।

और, कुछ अन्य फुटकर चीजे जिनका वर्गीकरण मै स्वयं नही कर पाता । रचनाकार का यह काम भी नही, आलोचक इसे लेकर मगजपच्ची करे ।

यह हुई पुस्तक ।

और आदोलन—जो हमे भौतिकता की अंधगुफा से उठाकर सास्कृतिक धरातल की ओर ले जाय।

जो संघर्ष के बीच भी हमे सौन्दर्य देखने की दृष्टि दे ।

पर कीचड़ को ठेलते बढ़ रहे हो किन्तु आँखे इन्द्रधनुष पर जमी हो ।

क्या कहा—पलायनवाद ?

अरे, कही भागनेवाला भी इतनी दूर देख सकता है, इस तरह देख सकता है ?

अपने पैर मै देख रहा हूँ—जरा तुम अपने भी देखो ?

कही वे ही तो पीछे नही भाग रहे है ।

मेरे नन्हे साथियो, कला के क्षेत्र को वादविवादो का अखाड़ा न बनाओ, अपने भीतर की गन्दगी से गन्दा न करो ।

सत्य ढूंढो, शिव ढूंढो, सुन्दर ढूंढो ।

सुन्दर—यही कला अन्य क्षेत्रों से पृथक होती है।
जो सौन्दर्य देख सके, परख सके, तुम्हें ऐसे नेत्र शीघ्र मिले।
इसी कामना में—"

यह भूमिका प्रथम संस्करण में ही नही बल्कि 'गेहूँ और गुलाब' के अन्य संस्करणों तथा 'बेनीपुरी ग्रंथावली' के प्रथम खंड में भी दी गयी है अतः इसे 'गेहूँ और गुलाब' के रचयिता का दृष्टिकोण स्पष्ट करनेवाली ही समझना चाहिए तथा इसके आधार पर हम यहाँ यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत कृति शब्द चित्रों का केवल संकलन मात्र ही नही हैं अपितु इसमें एक आंदोलन भी है जो हमें भौतिकता की अंधगुफा से उठाकर सांस्कृतिक धरातल की ओर ले जाने की क्षमता रखता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'गेहूँ और गुलाब' का पहला संस्करण जब प्रकाशित हुआ था तब उसके आवरण पृष्ठ में प्रकाशक की ओर से यह विज्ञप्ति दी गयी थी "यह पुस्तक लेखक के नवीनतम और सुन्दरतम शब्दचित्रों का केवल एक संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि नये युग के लिए उसका यह एक नया नारा भी है। नारा—जो हमारे कलाकारों को एक नये लोक की ओर आने का आमंत्रण देता है—वह लोक, जो सच्ची कला का लोक है—भौतिकता से ऊपर सांस्कृतिक चेतना का लोक है—कलुप-कालिमा से परे, शाश्वत सौन्दर्य का लोक।... पुस्तक के पृष्ठो पर दृष्टि डालिये, और हमारे उपर्युक्त कथन की सार्थकता की परीक्षा कीजिये। हमें पूरा विश्वास है कि यदि आपके मस्तिष्क की खिड़कियाँ बिलकुल बंद नही हैं, तो इसकी सुगंध से आप अपने मन और प्राण को निश्चय जुडायेगे तथा लेखक के शब्दशिल्प की सराहना करेंगे।"

यद्यपि 'गेहूँ और गुलाब' के अन्य संस्करणों में इस प्रकार की कोई भी प्रकाशकीय विज्ञप्ति नही दी गयी परन्तु विचारपूर्वक देखने पर तो उक्त विज्ञप्ति इस पुस्तक के प्रति सर्वत्र ही अक्षरशः सत्य जान पड़ती है और पुस्तक का सम्यक् अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'गेहूँ और गुलाब' के शब्दचित्रों में अनूठी प्रेरणा भी है तथा उनमें सांस्कृतिक व सामाजिक दृष्टिकोण भी विद्यमान है। संभवतः यही कारण है कि 'गेहूँ और गुलाब' का रचयिता तो कला के क्षेत्र को वादविवादो का अखाड़ा बनाना पसन्द नही करता पर कुछ विचारक इस कृति की प्रगतिशीलता को लक्ष्य कर बेनीपुरीजी को ही प्रगतिवादी मानने की भूल कर बैठते हैं। वस्तुतः प्रगतिवाद और प्रगतिशील दोनों ही शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ रखते हैं क्योंकि प्रगतिवाद शब्द तो हमारे यहाँ अब मार्क्सवादी साहित्य या मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य के लिए प्रचलित हो गया है पर प्रगतिशील शब्द तो एक व्यापक अर्थ रखता है। इस प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' में संगृहीत चरवाहा, नयुनिया, नींव की ईंट, पुरुष और परमेश्वर, डोमखाना तथा पनिहारिन

आदि रचनाओ मे स्पष्टतया जो प्रगतिशीलता परिलक्षित होती है उसके आधार पर हम बेनीपुरीजी को प्रगतिवादी लेखको की पक्ति मे नही सम्मिलित कर सकते क्योंकि प्रगतिशीलता तो साहित्य का स्वाभाविक गुण है और यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो साहित्य मे सर्वदा ही प्रगतिशील भाव-धारा प्रवाहित होती रही है।

जैसा कि बेनीपुरीजी ने स्वय 'गेहूँ और गुलाब' की भूमिका मे अपने दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है उनकी इस कृति मे सकलित शब्दचित्रो में संस्कृति का उद्‌घाटन प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है और इस प्रकार उन्होने गेहूँ को भूख, रोटी को सांसारिक अभाव का प्रतीक तथा गुलाब को संस्कृति, कला व साहित्य मे अंकित विलासिता का प्रतीक मानकर अपने उद्‌गार व्यक्त किये हैं। यद्यपि कही-कही ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक गेहूँ (भूख, रोटी, सांसारिक अभाव) की बात से गुलाब (संस्कृति, कला, साहित्य और जीवन से परे) की बात को अधिक महत्व देता है; जैसे–"रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्‌वासित हुआ सिर्फ इसलिए नही कि अब पेट पूजा की समिधा जुटाने मे उसे सहायता मिलेगी, बल्कि वह आनद विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणो से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष लक्ष ओस कणो से! आसमान मे जब बादल उमडे, तब उनमे अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नही हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया—इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्र-धनुषी रगो मे रग दिया।

मानव शरीर मे पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर। पशुओ की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा मे नही है। जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किन्तु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! प्राचीनकाल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न भिन्न रूप रहे है।"

उक्त अवतरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो लेखक गेहूँ से पूर्व गुलाब की आवश्यकता मनुष्य के लिए मानता है पर इसे लेखक का प्रतिनिधि दृष्टिकोण न समझना चाहिए क्योकि यहाँ वह जीवन में गेहूँ और गुलाब के समन्वय की आवश्यकता प्रतिपादित कर रहा है तथा इन उद्‌गारो को व्यक्त करने के पश्चात वह यह भी कहता है "जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का सतुलन

रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा।" इसके उपरांत उसका यही कहना है कि 'अव गेहूँ प्रतीक वन गया वही तोड़नेवाले, थकानेवाले, उवानेवाले, नारकीय यंत्रणायें देनेवाले, श्रम का—उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शांत न कर सके।

और, गुलाव वन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीच का! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी!"

इस प्रकार यह कहना कि वेनीपुरीजी गेहूँ की अपेक्षा गुलाव को अंगीकार करने की वात कहते है, उचित नही है क्योकि उन्होने तो दोनो मे संतुलन स्थापित करने की वात कही है और वह कलाकार को निर्देश देते हुए स्पष्टतया यही कहते है "अव मानव, मानव की उपासना करे, मानव की वंदना करे। भगवान की स्तुतियाँ वहुत हुई, हमारी कविता और गीत अव मानव की अलिखित यशोगाथा को छंदोवद्ध करें। मानव की ही खोज मे मानव की साधना दौड़े—उच्छ्वासित, चंचल, क्रियाशील मानव-मस्तिष्क अपने लिए पुष्पित और फलित करे।" इस प्रकार लेखक मनुष्य के स्वावलम्वी वनने मे ही उसकी मुक्ति मानता है और उसका यह भी कहना है कि कलाकार को मानव-निर्माता के रूप मे अपने कौशल का परिचय देना चाहिए तथा वह मानवीय शक्ति के समक्ष छप्पन कोटि देव देवादि देव भगवान को भी नतमस्तक मानता है। इतना ही नही वेनीपुरी समाज के विचार ही भगवान के विचार मानते हैं और समाज की आत्मा ही भगवान की आत्मा मानते हुए न केवल यह कहते है कि जनता का दृष्टिकोण ही भगवान का दृष्टिकोण हुआ करता है अपितु मानव मात्र से यह भी कहते हैं कि "परमात्मा की ओर हमने वहुत देखा; अव अपने पुरुषार्थ की ओर देखे।" इस प्रकार 'गेहूँ और गुलाव' का रचयिता पलायनवादी नही है और न वह भूख, रोटी व सासारिक अभाव से साहित्य और कला को ही श्रेष्ठतम समझता है वल्कि उसने तो 'नीव की ईंट' नामक शब्दचित्र में यही कहा है—"सुन्दर सृष्टि। सुन्दर सृष्टि, हमेशा ही वलिदान खोजती है, वलिदान ईंट का हो या व्यक्ति का।

सुन्दर इमारत वने, इसलिए कुछ पक्की पक्की लाल ईंटों को चुपचाप नींव मे जाना है।

सुन्दर समाज वने, इसलिए कुछ तपे-तपाये लोगो को मौन मूक शहादत का लाल सेहरा पहनाना है।

शहादत और मौन मूक! जिस शहादत को शोहरत मिली, जिस वलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कंगूरा है—मंदिर का कलश है।"

साथही वह यह भी कहते है—

"सदियों के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला कदम बढाया है।

इस नये समाज के निर्माण के लिए भी हमे नीव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कंगूरा बनने के लिए चारों ओर होड़ा होड़ी मची है, नीव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है।

सात लाख गाँवो का निर्माण ! हजारो शहरो और कारखानों का नव निर्माण ? कोई शासक इसे संभव कर नही सकता ! जरूरत है, ऐसे नवजवानों की, जो इस काम मे अपने को चुपचाप खपा दे।

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हो, एक नई चेतना से अभिभूत, जो शाबासियो से दूर हो, दलबदियो से अलग !

जिसमे कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिसमे वासना न हो। सभी कामनाओ से दूर–सभी वासनाओं से दूर।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है––हमारी नीव की ईंटे किधर है ?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है।"

इस प्रकार हम 'गेहूँ और गुलाब' मे संगृहीत शब्दचित्रो को प्रगतिशील विचारधारा––तथाकथित प्रगतिवाद या मार्क्सवाद से नही—से ओतप्रोत ही मानते है और उनमे पाठको को भौतिकता की अंधगुफा से उठाकर सास्कृतिक धरातल की ओर ले जाने की दिशा मे लेखक को पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है तथा समसामयिक समस्याओ का ज्वलंत चित्रण कर कृति को सोद्देश्य भी बनाया गया है। सामाजिक समस्याओ का चित्रण करने के साथ-साथ 'बेनीपुरी' ने 'गेहूँ और गुलाब' मे व्यष्टि जीवन की उपेक्षा नही की। चूंकि व्यक्ति भी समाज का महत्वपूर्ण अंग ही है अत: ग्राम-जीवन और कृषकों की समस्याओं का चित्रात्मक वर्णन करने के साथ-साथ नारी और वृद्ध जीवन की दशा का भी चित्रण किया गया है। इस प्रकार 'मीरा नाची रे' मे लेखक संस्कृति मे नारी का अनिवार्य सहयोग स्वीकार करते हुए उसे–नारी को–सृष्टि साधना का फूल मानता है और नारी जाति को रूढ़ियो के प्रति विद्रोह करने की प्रेरणा देते हुए यहाँ तक कहता है—

"अपने गांवों मे, नगरो मे हमे संस्कृति का जो समावेश करना है; क्या वह विना नारी के सहयोग के संभव है ?

अपने उजड़े गाँवो, नगरों को हमें सौन्दर्य और संगीत से ओत प्रोत कर देना है, नृत्य और वाद्य से मुखरित और गुजरित कर देना है।

हमें ऊसर में फूल खिलाना है; ध्वंश पर कंचन मंदिर स्थापित करना है।

अँधेरे घर मे अखंड ज्योति जलानी है।

क्या यह सब बिना नारी के संभव है ?

किन्तु नारियों को तो अट्टालिकाओ ने घेर रखा है। अभिभावकों ने दबोच रखा है। फिर क्या हमारे ये स्वप्न ही रह जायँगे ?

हाँ, स्वप्न, स्वप्न रहेगे, यदि हमारी मीराओं ने मीरा का अनुकरण नही किया।

वंश-मर्यादा, पतिवर्त धर्म-सबकी कीमत है, इनकी रक्षा होनी चाहिए। किन्तु समाज की पुकार, कला की पुकार, मीरा की पुकार उससे भी अधिक कीमत रखती है।'

भाव-पक्ष की उत्कृष्टता के साथ-साथ 'गेहू और गुलाब' का कला-पक्ष भी सराहनीय है तथा यहाँ यह भी स्मरणीय है कि साहित्य की प्रत्येक विधा मे शैली का अपना निजी महत्त्व होता है और शब्दचित्र या रेखाचित्र में तो उसे एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। विचारको का कहना भी है कि "रेखाचित्र की कला बहुत कुछ फोटोग्राफी की कला की भाँति है। जिस प्रकार कैमरामैन अपने कैमरे द्वारा किसी वस्तु स्थान अथवा व्यक्ति का वास्तविक चित्र ले लेता है उसी प्रकार रेखाचित्रकार भी विश्व की किसी भी वस्तु का–चेतन तथा अचेतन का–चित्र अपने शब्दों द्वारा बना लेता है, जिसमे उसी प्रकार की वास्तविकता रहती है। प्रत्येक प्राणी का जीवन मे अपना निजी दृष्टिकोण रहता है तथा उसकी विचार शक्ति, उसके देखने का ढंग, उसकी अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति सभी कुछ मौलिक होता है। इसी कारण एक ही वस्तु के रेखाचित्र विभिन्न दृष्टिकोण के कारण एक दूसरे से भिन्न रहते है।

रेखाचित्रकार का भाषा पर पूर्ण अधिकार अपेक्षित है। उसे गागर में सागर भरना होता है। बिना इस अधिकार के वह यह कार्य सम्पन्न नही कर सकता। उसे ऐसी शब्द योजना करनी पड़ती है कि पाठक की आँखें उन शब्दों मे ही वस्तु या व्यक्ति को देखने लगे। पाठक यह अनुभव करने लगता है कि वह उस वस्तु या व्यक्ति के अत्यंत समीप है। वस्तु या व्यक्ति के सान्निध्य की अनुभूति करवा देने की ही रेखाचित्रकार की अपनी विशेषता लेखक की भाषा-शक्ति पर निर्भर

है। इसी शक्ति के सहारे वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को सजीव कर सकता है। निस्सदेह, रेखाचित्र के लिए लेखक की गंभीर अंतरदृष्टि की अपेक्षा है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पार्श्ववर्त्ती जगत् का इस अन्तरदृष्टि द्वारा निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, आलोचन-पर्यालोचन करे और इसी पर्यालोचन के आधार पर जीवन के व्यापक क्षेत्र मे व्यावहारिक अनुभव का संचय करे। वह संचय उसकी भाषा शक्ति में ऐसी गंभीरता एवं घनता की सृष्टि कर देता है कि वह थोडे शब्दो मे बहुत कहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। वह रेखाओ से ही चित्र बना डालता है। वह रंगो के भरे बिना ही, विशाल आयोजन किये बिना ही, घटनाओ का जल फैलाये बिना ही वस्तु या व्यक्ति का स्वरूप उद्घाटित कर देता है। प्रत्येक साहित्यिक रचना मे रचनाकार का अपनापन निहित रहता है। रेखाचित्र इसका अपवाद नही। इसी से रेखाचित्र के साथ शैली-तत्त्व का भी सम्बन्ध हो जाता है।" इस प्रकार रेखाचित्र या शब्दचित्र का मूल्यांकन करते समय उसकी शैलीगत विशिष्टताओ पर प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक है और चूंकि शैली का नामकरण भाषा, उसकी अर्थ शक्ति और सफलता के आधार पर ही किया जाता है अत यहाँ 'गेहूँ और गुलाब की शैली का परिचय देते समय हम पहले उसकी भाषागत विशेषताओ का ही उल्लेख करेगे।

वस्तुत: गेहूँ और गुलाब' मे भाषा का व्यावहारिक रूप ही दृष्टिगोचर होत है तथा बेनीपुरीजी ने अन्य दूसरी भाषाओ के शब्द भी निस्सकोच ग्रहण किए हैं अत. इस कृति मे न केवल अन्य प्रांतीय भाषाओ के शब्दो का प्रयोग किया गया है अपितु अंग्रेजी, उर्दू व फारसी के शब्द भी यत्र तत्र विद्यमान है पर इनसे भाषा की निजता नष्ट नही हुई। इस प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' मे भाषा का अत्यंत चलता, व्यावहारिक, सार्थक, सहज व स्वच्छ रूप दीख पड़ता है तथा भाव, वातावरण, समय व संयोग के अनुरूप भाषा रूप-सघटन मे सक्षम भी रही है। साथ ही कुशल शब्द-शिल्पी होने के कारण बेनीपुरीजी ने शब्द योजना पर भी पूर्ण ध्यान रखा है और अनुप्रास, यमक, उपमा व रूपक आदि अलंकार भी अपने स्वाभाविक रूप मे विद्यमान हैं। यद्यपि कही-कही विराम चिन्हो के प्रयोग मे त्रुटियाँ अवश्य है पर इससे भाषा-सौन्दर्य को कोई क्षति नही पहुँची और सच तो यह है कि इस कृति मे सर्वत्र चित्रमयता ही दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ—
"बादलो के बीच यह बिजली की चमक है, या स्वर्ग मे सहस्त्र परियो का नृत्य एक साथ ही हो रहा है क्योकि अब तो पल पल उसकी गति इतनी चपल होती जाती है कि एक परी की कल्पना की नही जा सकती। पूरब के कोने को जो विहँसित, चमत्कृत कर रही है, वह एक परी हो नही सकती। विहँसित चमत्कृत

और मुखरित भी ! हाँ, सुन रहा हूँ, रह रहकर मंजीर का शिंजन और किसी चतुर वादक में मृदंग का गंभीर रव भी ! किन्तु स्वर्ग कहाँ है ? परियाँ झूठ हैं या सच--कौन कौन बतावे?"

सामान्यत गद्य में प्रयुक्त होने वाली शैलियों का नामकरण इस प्रकार किया जाता है--व्यास, समास, आवेग, विक्षेप, प्रलाप, व्यंग्य और विवेचन पर कुछ विचारक व्यास व समास शैली को ही मुख्यता प्रदान करते हैं तथा शेष को इनकी सहायक शैली मानते हैं। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि व्यास शैली को ही कुछ विचारको ने प्रसाद शैली कहा है और दोनो में अर्थ सम्बन्धी कोई भिन्नता भी नहीं है तथा उनके द्वारा प्राय. एक ही रूप का बोध होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि व्यास का अर्थ है विस्तार और "व्यास शैली के अंतर्गत किसी बात की व्याख्या अथवा प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया जाता है। इसके अंतर्गत भाषा सरल, सुबोध तथा वाच्यार्थ प्रधान होती है जिसमे साधारण वाक्यो की प्रधानता, विचारों की स्पष्टता, कृत्रिमता का अभाव, माधुर्य गुण का प्रभाव तथा शैलीकार के व्यक्तित्व का निजीपन विशेष रूप से मिलता है।" इसी प्रकार समास का अर्थ संकोच अथवा संक्षिप्तता है और "समास शैली में कोई बात संक्षेप मे नपे तुले शब्दो द्वारा कही जाती है। इसके अंतर्गत संस्कृत की तत्सम शब्दावली, वाक्य संयुक्त अथवा मिश्रित, भाषा सरल सुबोध और जटिल दोनों प्रकार की, अर्थ की गहनता तथा विस्तार, आदि विशेषताओ की गणना की जाती है। भाषा की जटिलता, शाब्दिक फैलाव अर्थ की अव्याप्ति तथा गति की शिथिलता आदि को समास शैली के अतर्गत नही लेना चाहिए। वस्तुत: समास शैली को विचारकों, पंडितो, दार्शनिको तथा गभीर साहित्यकारों के बुद्धि-विलास का सफल साधन समझना चाहिए।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'गेहूँ और गुलाब' में व्यास और समास दोनों ही शैलियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है पर अधिकतर व्यास शैली के ही दर्शन होते हैं। यों भी सुबोधता और स्वाभाविकता की अवतारणा-हेतु व्यास शैली अधिक सहायक सिद्ध होती है तथा 'गेहूँ और गुलाब' मे प्रयुक्त व्यास शैली में सरलता के साथ-साथ विचारो की गभीरता भी है। उदाहरणार्थ--"जब तक मानव-मस्तिष्क कल्पना के फेर में है, हर पदार्थ उसके सामने काल्पनिक रूप पकड़कर आया करता है। मानव-चक्षु से पर्दा हटने दीजिए; वह सब कुछ स्पष्ट देखने लगेगा। मानव-मन जब स्वाभाविकता को स्वभावत: ग्रहण करने में सक्षम हो जायगा, सभी काल्पनिक देव आप-से आप काफूर हो जावेंगे।" उसी प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' में समास शैली भी प्रयुक्त हुई है पर उसमें शुष्कता व नीरसता नही है अपितु भावात्मकता की अपूर्व रस वर्षा ही दीख पड़ती है; जैसे "सामने

जहाँ तक नजर जाती, समुद्र ही समुद्र। उसमे ज्वार आया है। बड़ी-बड़ी तरंगे उठतीं, एक दूसरे से टकराकर फन उड़ाती गर्जन करती, आगे बढ़ती, और बाँध पर सर पटक कर फिर लौट जाती। ऊपर जो चन्द्रपूर्ण आधी रात तय करके सिर पर खड़ा मुस्कुरा रहा है, उसकी मुस्कुराहट उन तरंगो पर अठखेलियाँ कर रही है। कभी-कभी मालूम होता, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शतसहस्र ज्योत्स्ना कुमारियाँ चन्द्रमंडल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरग मालाओ के कंपित अघरो को चूम-चूम कर अट्टहास कर उठती है। इन चुम्बनो की मादकता से मतवाली बनी तरगे आप अपने मे नही है, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर जाना चाहती है; किन्तु उड़ नही पाती, फलतः बार-बार मूच्छित होकर, हा हा खाकर गिर गिर पड़ती और फिर ज्योही होश मे आती, वे ही निष्फल चेष्टाएँ! स्वभावतः ही ज्योत्स्ना-कुमारियो को इसमें मजा मिल रहा है, वे इस तडपन का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बनों की वर्षा-सी किये जा रही है।"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-शैली की दृष्टि से 'गेहूँ और गुलाब' उत्कृष्ट गद्य-रचना है तथा जैसा कि डॉ. प्रभाकर माचवे का कहना है "थोडे से चुने हुए शब्दो मे एक बड़ा सूचक चित्र उपस्थित करना बेनापुरीजी की विशेषता है।"

कहानी और साहित्य की अन्य विधायें

वस्तुतः कहानी की परम्परा सर्वदा विद्यमान रही है[1] और उसका आरंभ मानव सृष्टि के साथ ही हुआ है[2] पर कहानी के कई अन्य नाम भी प्रचलित हैं तथा जिस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में वह कथा, दंत कथा, वार्ता, आख्यायिका, कादम्बरी, हितोपदेश व दृष्टान्त के रूप में प्रसिद्ध रही है उसी प्रकार अब आधुनिक काल में उसके कहानी (हिन्दी), लघु कथा (मराठी), शार्ट स्टोरी (अँग्रेजी), कौन्ते (फ्रेन्च), नौवेले (जर्मन), गल्प (बंगला), कथा (तमिल), टुंकी वार्ता (गुजराती), किस्सा (उर्दू) इत्यादि अनेक नाम प्रचलित हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि आधुनिक कहानी प्राचीन युग की कहानियों से सर्वथा पृथक् समझी जाती है[3] और डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "वर्तमान काल में आकर कहानी के जिस रूप से हम परिचित हो रहे हैं, अथवा जिस रूप का अत्यधिक विकास प्रसार हो रहा है उसमे न तो प्राचीन पद्धति का अनुसरण है, और न उसकी उपादेयता; और न उस सर्जना प्रणाली से हमारा कोई सम्बन्ध

---

१. देखिए—

"'Tell-me-a story' has been phrased on all tongues from the age when words were symbols scratched on stones, and books were bricks. Centuries ago at the gates of Bagdad, beggars and petty merchants sat and passed the time with wonder tales, of adventure and of magic."—International Short Stories; Page 1

२. "कहानी का आरंभ मानव सृष्टि के साथ ही हुआ है और उसका अंत भी प्रलय के साथ ही होगा तथा आदि मानव मनु और श्रद्धा की कहानी ही मानव जाति की सर्वप्रथम कथा है।"

—कहानी कला की आधार शिलाएँ : दुर्गाशंकर मिश्र; पृष्ठ १०

३. "कहानी कहने की प्रथा कोई नई चीज नहीं है पर 'कहानी' नामक नया साहित्यांग आधुनिक युग की देन है।"

—हिन्दी साहित्य : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ ४२१

रह गया है।"[४] इतना ही नही आधुनिक कहानी को प्राचीन कहानियो की तुलना मे अत्यधिक कलापूर्ण भी समझा जाता है[५] और समीक्षक यह भी मानते हैं कि "बीसवी शताब्दी के हिन्दी साहित्य का सबसे नया और शक्तिशाली रूप .... कहानियो के माध्यम से ही प्रकट हुआ।"[६] इस प्रकार व्यापकता और प्रसार की दृष्टि से कहानी का स्थान आधुनिक हिन्दी साहित्य के समस्त अंग-उपागों मे सर्वोपरि माना जाता है अत: हम यहाँ यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि आधुनिक कहानी, साहित्य के अन्य अग-उपागो से कहाँ तक सम्बद्ध मानी जा सकती है और कहाँ तक पृथक् या विभिन्न कोटि की रचना कहला सकती है।

साहित्य की समस्त विधाओ मे से उपन्यास का ही कहानी से सर्वाधिक सम्बन्ध माना जाता है और उपन्यास व कहानी के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ. गुलाबराय ने कहा भी है "कहानी अपने पुराने रूप मे उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप मे उसकी अनुजा। वृत्त या कथा साहित्य की वशजा होने के कारण कहानी और उपन्यास दोनो मे ही कई बातो की समानताएँ है।"[७] इसी प्रकार श्री. नददुलारे वाजपेयी ने भी दोनो की समानता पर विचार करते हुए कहा है कि "उपन्यास और कहानी रचनात्मक कला सृष्टियाँ नही हैं, उनमे जीवन का स्वरूप दिखाया जाता है। उनमे घटनाओ, पात्रो और परिस्थितियो के वास्तविक चित्र उपस्थित किए जाते हैं। विशेषकर उपन्यास तो जीवन की ऐसी झलक दिखाने का उद्देश्य रखता है, जिसमे मूल जीवन घटना और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना मे कोई अंतर ही न दिखाई दे। जीवन के या वास्तविक संसार के, किसी अंश या खंड को काटकर जैसे उपन्यास मे रख दिया गया हो—चलते फिरते पात्रो और सजीव घटनाओ का अकन, जिसमे मूल और प्रतिकृति का अतर ही न रह गया हो। कहानी मे यह बात यद्यपि इतनी स्पष्ट नही होती—उसके छोटे

---

४. कहानी का रचना-विधान—डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा; पृष्ठ ४

५ "पुरानी कहानी उद्देश्य को प्रमुख मानकर विस्मयजनक कथा के सहारे अपनी उद्देश्य व्यजना कर देती थी, उपदेश दे डालती थी; किन्तु नवीन कहानी शैली, वस्तु या साधनो को सजाने मे अधिक व्यस्त रहती है, यद्यपि ऐसा करने मे साध्य का ध्यान छूटता नही। सच तो यह है कि वर्तमान कहानी अधिक कलापूर्ण और विश्वसनीय रूप मे अपना कार्य पूरा करती है।"

—आधुनिक साहित्य : श्री. नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ १९०

६. हिन्दी साहित्य—डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ ४१२

७. काव्य के रूप—डॉ. गुलाबराय, पृष्ठ २१५

आकार और उसकी तीव्र घटना प्रगति के कारण यद्यपि वह किसी वास्तविक जीवन खंड का प्रतिरूप नही जान पड़ती–फिर भी कहानी-लेखक का यह प्रयास तो रहता ही है कि वह कहानी मे भी यथार्थ जीवन चित्र का आभास अधिक से अधिक ला दे। अंग्रेजी का शब्द 'फिक्शन' जो उपन्यास और कथा साहित्य के लिए काम मे लाया जाता है कदाचित इसी अर्थ को व्यक्त करता है कि उपन्यास तथा कहानी मे कल्पना द्वारा रची गई कथा को वास्तविक जीवन घटना से पृथक् करना आसान नही है। कला मे वास्तविकता का भ्रम हो जाने की पूरी संभावना है।"[८] श्री. विश्वनाथप्रसाद मिश्र की दृष्टि मे "कहानी और उपन्यास मे तत्त्वों की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। भेद है घटनाओं की व्यष्टि और समष्टि की योजना की दृष्टि से। कहानी की विस्तार सीमा छोटी ही होती है, चाहे उसका कितना ही फैलाव क्यों न किया जाय। कहानी जीवन का एक चित्र रखती है–निरपेक्ष, स्वच्छंद। उपन्यास जीवन के एकाधिक चित्रों का योग संघटित करता है, सापेक्ष, सम्बद्ध।"[९]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उपन्यास और कहानी मे समानताएँ होते हुए भी दोनों की अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं जिनसे कि दोनों ही विधाएँ पारस्परिक एक दूसरे से पृथक् ही प्रतीत होती हैं और इस प्रकार न तो हम कहानी को छोटा उपन्यास ही कह सकते हैं और न उपन्यास को कहानी तथा श्री गुलाबराय के शब्दों में "यह कहना ऐसा ही असंगत होगा, जैसे चौपाये होने की समानता के आधार पर मेंढक को छोटा बैल और बैल को बडा मेंढक कहना। दोनों के शारीरिक संस्कार और संगठन मे अंतर है। बैल चारो पैरो पर समान बल देकर चलता है तो मेंढक उछल-उछल कर रास्ता तय करता है।"[१०]

इस प्रकार कहानी और उपन्यास के रूप, विषय, उद्देश्य तथा विधान मे समानताएँ होते हुए भी दोनो में कई मूल विभिन्नताएँ हैं और कहानी को उपन्यास का Coming form कहना उपयुक्त नहीं है तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का तो यही स्पष्ट मत है कि 'उपन्यास और गल्प भिन्न कला है। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास मे जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी

---

८. नया साहित्य : नये प्रश्न–श्री नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १३०

९. हिन्दी का सामयिक साहित्य–श्री. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ १८६

१०. काव्य के रूप–डॉ. गुलाबराय, पृष्ठ २१६

लिखी जाती है।"[11] इसी प्रकार श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा है "उपन्यास एवं गल्प दो भिन्न वस्तुएँ है। एक का स्थान दूसरा ग्रहण नही कर सकता, क्योकि एक दूसरे के अभाव की पूर्ति नही कर सकता। उपन्यास एव गल्प मे सादृश्य है अवश्य किन्तु साथ ही दोनो मे विभिन्नताएँ भी है। उपन्यास मे किसी चरित्र की सम्पूर्णता होना आवश्यक है, गल्प मे चरित्र के किसी अंश विशेष का चित्रण होने से ही काम चल जाता है। उपन्यास मे नाना चरित्रो के समावेश द्वारा समाज का एक सर्वांगपूर्ण चित्र अकित किया जाता है, गल्प मे दो एक चरित्रो के दो एक स्वरूपो को चित्रित कर देना ही यथेष्ट है। किन्तु, इस चरित्र-चित्रण की प्रणाली क्या होगी, इसको लेकर ही समस्या उपस्थित होती है। गल्प में विषय-वस्तु होती है, रचना-कौशल होता है और उससे भी बढ़कर एक वस्तु होती है वास्तविकता को प्रस्फुटित करने का कौशल। उपन्यास मे जटिल मानव जीवन की मनोवृत्तियाँ तथा उसके बाह्य एवं आंतरिक द्वन्द्वो का जो सूक्ष्म एवं विभिन्नमुखी चित्र हमे देखने को मिलता है, वह छोटी कहानी में संभव नही हो सकता; क्योंकि इसके लिए चाहिए सुपरिसर स्थान, जिसका छोटी कहानी मे अभाव होता है। चरित्र का कम विकास, उसकी जटिलताओ का विश्लेषण एवं सहज समाधान भी हम छोटी कहानी मे पाते है......।"[12]

उपन्यास और कहानी में केवल लघुता-दीर्घता या आकार और मात्रा की ही विभिन्नता नही है बल्कि प्रकार का भी अतर है।[13] डॉ. प्रभाकर माचवे के शब्दो मे "कहानी जीवन के खड या अंश मात्र को प्रस्तुत करती है; उपन्यास जीवन की समग्रता को। कहानी उछलता-कूदता हुआ वन्य निर्झर है; उपन्यास गभीर कुलहीन समुद्र। कहानी एक ही दिन मे मुरझा जाने वाली लिली की कली है; उपन्यास विशाल, युग युगो तक स्तब्ध मौन, तना खड़ा देवदारु। कहानी-लेखक जैसे द्रुत रेखाचित्र या स्नैप मात्र लेता है; उपन्यास वृहद् भित्तचित्र (फ्रेस्को) के समान है। कहानीकार भीड़ को अपनी छोटी सी खिड़की मे से या सराय के एक कोने से देख लेना पर्याप्त समझता है; उपन्यास-लेखक एक ऊँची मीनार पर बैठकर जैसे आस-पास का विस्तृत भू-प्रदेश देखता है।"[14] इसी प्रकार

---

११. नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि—श्री. प्रकाशचन्द्र गुप्त; पृष्ठ १०८

१२. साहित्य की वर्तमान धारा—श्री. जगन्नाथप्रसाद मिश्र

१३. "The story differs form the novel in length, so it must of necessity differ from it in motive, plan and structure." —W. H. Hudson

१४. संतुलन—डॉ. प्रभाकर माचवे; पृष्ठ १८६

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है कि "उपन्यास एक शाखा-प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष है, जब कि छोटी कहानी एक सुकुमार लता"[१५] और बेरीपेन ने भी उचित ही कहा है कि "उपन्यास पढ़ना भरपेट भोजन से पूर्ण संतोष पाना है; कहानी का केवल बुभुक्षा लहकाना या उकसाना मात्र।" पाश्चात्य विचारकों ने तो कहानी को जीवन के केवल एक भाग (aspect) की झाँकी (snapshot) मात्र मानकर उचित ही किया है क्योंकि उपन्यास यदि जीवन का पूर्ण चित्र है तो कहानी उसके एक अंग की झलक मात्र है लेकिन यह झाँकी स्वत: अपने आपमें सर्वथा पूर्ण होती है। कहानी जहाँ कि समस्त जीवन के किसी एक विशिष्ट अंग या बिन्दु की ही झलक प्रस्तुत करती है वहाँ उपन्यास में न केवल पृष्ठों की अधिकता रहती है; घटनाओं परिस्थितियों तथा देश, काल और वातावरण का अत्यंत विशद विवेचन भी होता है। इतना ही नहीं उपन्यास मे तो कई आकर्षण केन्द्र होते हैं और उसमे पाठको को आकर्षित करनेवाली अनेकानेक परिस्थितियों की संयोजना भी की जाती है परन्तु कहानी मे केवल एक ही आकर्षण-केन्द्र होता है, क्योंकि कहानी का पात्र विशेष सीमित क्षणों के लिए ही हमारे सामने आता है, तथा पाठकों को अपनी ओर आकृष्टकर मंत्रमुग्ध सा कर लेता है। यह भी सत्य है कि कहानी के पात्र का पाठक के हृदय पर विशेष प्रभाव पड़ता है लेकिन कुछ विचारकों का मत है कि औपन्यासिक पात्रो का पाठक की मानस-स्थली पर अधिक हृदयग्राही प्रभाव पड़ता है।[१६]

इसमे कोई संदेह नहीं कि उपन्यास की सी अनेकरूपता कहानी में नही होती तथा उसमें न तो प्रासंगिक कथाएँ ही रहती हैं और न वातावरण एवं देशकाल की परिस्थितियो का विस्तार ही रहता है। उपन्यास मे तो जीवन के विभिन्न चित्र दृष्टिगोचर होते हैं तथा विस्तार के साथ उनका निरूपण भी किया जाता है लेकिन कहानी का क्षेत्र छोटा होता है और उसमे न तो पात्रो का विशद

---

१५. साहित्य का साथी—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ ८६

१६. "It is true of men and women in fiction as it is of men and women in actual life. But in the short story we meet people for few minutes and see them in few relationships and circumstances only; and while it is indeed true that concentration of attention upon a particular aspect of character may result in a very powerful impression, still, as a rule, such impression is not exactly comparable with that left by an ampler, more detailed and not more varied representation." —W. H. Hudson.

चरित्र-चित्रण ही संभव है और न जीवन की वैसी विस्तृत व्याख्या ही हो सकती है। श्री. पहाड़ी ने भी उपन्यास और कहानी मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है "उपन्यास मे जीवन की समस्याओ की व्याख्या मिलती है और उन समस्याओं का समाधान मिलता है। कहानी मे यह बात नही पाई जाती। कहानी एक प्रश्न को उठाती है, किन्तु उसका उत्तर पूर्ण रूप से नही देती। व्याख्या उपन्यास का प्राण है। सकेत और गूंज (Suggestion and Echo) कहानी की जीव-स्वासे है। उपन्यास को हम नक्षत्रखचित आकाश कहे तो कहानी को सप्तरगी इन्द्रधनुष मान ले। अकस्मात् रहस्यपूर्ण क्षितिज के कोने से रगो की रागिनी उठी और देखते देखते नयनाभिराम होकर अछोर फैल गई और देखते देखते न जाने कहाँ विलीन हो गई।"

उपन्यास की सी जटिलता भी कहानी मे नही होती और उसकी अपेक्षा कहानी मे पाठको को अतिम सवेदना तक शीघ्रातिशीघ्र ले जाने की क्षमता विशेष रूप से पाई जाती है। साथही कथानक, चरित्र चित्रण तथा शैली आदि तत्त्वो मे से किसी एक को ही कहानीकार प्रमुखता दे सकता है, सबको एक साथ नही लेकिन उपन्यास मे तो सभी का समावेश हो सकता है। संक्षिप्तता के फलस्वरूप कहानी की शैली अधिक व्यजना-प्रधान होती है अत: उसमे काव्यत्व की मात्रा भी अधिक होती है। उपन्यास तथा कहानी मे एक और भेद प्रभाव की अन्विति (Unity of Impression) जिसे कि एडगर एलेन पो ने पूर्णता का प्रभाव (Effect of Totality) कहा है, मानते हुए Evelyn May Albright की The Short Story. Its Principles and Structure मे कहा गया है—"Brander Matthews in his 'Philosphy of the short story' lays great stress on this unity of Impression what Poe calls the 'Effect of totality'—as the mark of distinction between the short story and the novel And Canby carrying the distinction further, says it is the deliberate and conscious use of impresionistic methods, together with the increasing emphasis of situation that distinguishes the short story of today from the tale or simple narrative and makes it seem a new work of art." अर्थात् ब्रेडर मैथ्यू ने अपनी पुस्तक 'छोटी कहानी का दर्शन' मे प्रभावान्वित को विशेष महत्व दिया है जिसे 'पो' पूर्णता का प्रभाव मानते है—छोटी कहानी और उपन्यास मे यही सबसे बडा अतर है। केनबाइ ने इस अंतर को और आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह प्रभावोत्पादक साधनो का एक स्वेच्छित और सतर्क प्रयोग है तथा इसमे परिस्थिति पर भी विशेष बल दिया जाता है जिससे कि आधुनिक कहानी कथा या आख्यायिका से विभिन्न जान पडती है और वह एक सुन्दर नूतन कलाकृति के

रूप मे दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार जैसा कि श्री. रामनारायण 'यादवेन्दु' ने लिखा है "संक्षेप मे, कहानी की सामग्री एक स्थिति है। आधुनिक कहानी इस विषय मे उपन्यास और सरल वर्णन या कथा एवं उपाख्यान, जिससे इनका प्रादुर्भाव हुआ है, से सर्वथा भिन्न है। उपन्यास का सम्बंध जीवन चरित्रो से है और सरल वर्णन एवं उपाख्यान का घटनाओ के रोचक तारतम्य से। परन्तु कहानी जिसे अग्रेजी मे शार्ट स्टोरी कहते है, जीवन के इतिवृत्तो को जिस ढंग से प्रस्तुत करती है वह उपाख्यान और उपन्यास के ढंग से सर्वथा भिन्न है। कहानी में पात्रों के जीवन को हम तीन रूपो मे पाते है। एक पूर्व चिन्तन द्वारा, दूसरे भावी निर्देश द्वारा और तीसरे प्रमुख संकट के प्रस्तुत द्वारा। कहानी मे घटनाओं के तारतम्य का प्रयोग एक निश्चित उद्देश्य द्वारा होता है जिससे एक स्थिति के प्रभाव की अभिव्यक्ति हो।"[१७]

अन्य समीक्षकों की भाँति डॉ. भगीरथ मिश्र ने भी उपन्यास और कहानी में तत्वों की दृष्टि से सादृश्यता स्वीकार करते हुए भी दोनो का अंतर अत्यंत कुशलता के साथ अपने 'काव्यशास्त्र' नामक सैद्धांतिक समीक्षा सम्बंधी ग्रंथ में स्पष्ट किया है।[१८] देखिए—

कहानी	उपन्यास
(१) कहानी जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत करती है।	(१) उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का विशद और व्यापक चित्र उपस्थित करता है।
(२) कहानीकार के लिए संक्षिप्तता और संकेतात्मकता आवश्यक है।	(२) उपन्यासकार के लिए विवरणपूर्ण विशद व व्याख्यापूर्ण शैली आवश्यक है।
(३) कहानीकार एक भाव या प्रभाव-विशेष का चित्रण करता है।	(३) उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृत्ति करता है।
(४) कहानी मे प्रासगिक कथाओं का अवसर नही होता।	(४) उपन्यास मे प्रासंगिक कथाओं का सगठन आधिकारिक कथा की एकरसता को दूर करने तथा वर्णन में विविधता लाने के लिए आवश्यक होता है।

---

१७. कहानी कला—श्री. रामनारायण 'यादवेन्दु'

१८. काव्यशास्त्र-डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ८२–८३

(५) कहानी मे थोड़े समय मे ही महत्व-पूर्ण बात कहनी होती है। अतः कला की सूक्ष्मता इसमे आवश्यक होती, है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह एक भाव-विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है।	(५) उपन्यास मे सूक्ष्म कला की उतनी आवश्यकता नही जितनी व्यापक उदात्त दृष्टिकोण तथा भाव, रस और परिस्थिति के समग्र रूप मे चित्रण की। रस के विविध रूपों का समावेश उपन्यास मे हो सकता है।
(६) कहानी द्वारा हल्का मनोरंजन ही प्राय. सम्पादित हो पाता है।	(६) उपन्यास परिस्थिति और पात्र के पूर्ण चित्रण द्वारा हृदय-मंथन और मन-संस्कार भी करता है।

इस प्रकार अपनी संक्षिप्तता, एकध्येयता, प्रभावोत्पादकता, अनुभूति की त व्रता आदि के कारण कहानी उपन्यास से सर्वथा स्वतंत्र सत्ता रखती है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि रेखाचित्र और कहानी मे कभी-कभी अंतर स्थापित करना बहुत कठिन हो जाता है तथा कुछ कहानियाँ तो कहानियाँ न होकर रेखाचित्र ही होती है। इसमे कोई संदेह नही कि रेखाचित्र साहित्य का सर्वथा स्वतंत्र अग है और श्री. शिवदानसिह चौहान के शब्दो मे 'कला के अंदर रेखाचित्र की एक स्वतत्र सत्ता है, उसे पढने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवनधारा के अगले मोड़ या प्रवाहो को जानने की आवश्यकता नही रह जाती। वह उस पूरी तसवीर को पढकर संतुष्ट हो जाता है और चूंकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्यविषय कल्पना प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी।"[१९] यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कुछ समीक्षक[२०] और लेखक[२१] रेखाचित्र को शब्दचित्र मानते है तथा रेखाचित्र मे तो एक ही वस्तु या पात्र का स्थायी रूप से चित्राकन किया जाता है और उसमे वर्णन की ही प्रधानता होती है परन्तु कहानी मे वर्णन के साथ-साथ प्रबंधात्मक कथन भी रहता

---

१९. प्रगतिवाद—श्री. शिवदानसिह चौहान; पृष्ठ ११०

२०. "अपने सम्पर्क मे आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा सवेदना को जगानेवाली सामान्य विशेपताओ से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी स्वरूप को देखी-सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में, इस प्रकार उभार कर रखना कि उसका हमारे हृदय मे एक निश्चित प्रभाव अकित हो जाय रेखाचित्र या शब्दचित्र कहलाता है।"
—काव्यशास्त्र : डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ९७

२१. श्री. रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपनी 'गेहूँ और गुलाब' नामक कृति को शब्दचित्र ही कहा है।

है और गत्यात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है। डॉ. नगेन्द्र ने अत्यंत सुन्दर ढंग से कहानी और रेखाचित्र का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा है–"कहानी और रेखाचित्र मे कोई आत्यंतिक अंतर करना कठिन है, फिर भी दोनो मे अन्तर अवश्य है क्योंकि ये दोनो शब्द आज भी बराबर प्रचलित है और इनका प्रयोग करनेवाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यंजना नही करते। कहानी के विषय मे तो किसी को विशेष भ्रांति होने की गुंजाइश नही है, रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्रकला का शब्द है जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमे चित्रांकन का मूल आधार रेखाएँ होती है। ज्यामिती मे रेखा की विशेषता यह है कि इसमें लम्बाई होती है, मोटाई-चौड़ाई आदि नही होती। अतएव अपने मूल रूप मे रेखाचित्र मे मोटाई-चौड़ाई अर्थात् मूर्त रूप और रंग आदि नही होते। उसमे आकार तो होता है, पर भराव नही होता इसलिये उसे खाका भी कहते है। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य मे आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावत: इसके साथ आई अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमे रेखाएँ हों पर मूर्त रूप अर्थात् चढ़ाव-उतार दूसरे शब्दो मे कथानक का उतार-चढाव आदि न हो, तथ्यो का उद्घाटन मात्र हो। पूर्व आयोजन अथवा आयोजित विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्य खुलते जाते है, संयोजित नही होते है। कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नही है, पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना जरूरी है, घटना का भराव वह वहन नही कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विश्लेषण किसी भी प्रकार अवाछनीय नही है परन्तु रेखाचित्र का वह प्राय: अनिवार्य साधन है।"[२२] साथही रेखाचित्र मे न तो कथानक ही होता है और न चरम सीमा वाली स्थिति ही आ पाती है तथा कहानियों मे तो शृंखलाबद्ध घटनाएँ भी रहती हैं अन्यथा असम्बद्ध घटनाओं के होने से उसका समस्त सौन्दर्य ही विनिष्ट हो सकता है। इस प्रकार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के कथनानुसार "आधुनिक कहानी कला मे रेखाचित्र शैली को कहीं-कहीं प्रमुखता मिल रही है, लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से अभी तक रेखाचित्र कहानी के समग्र सहायक तत्त्वों में आता है।"[२३]

यद्यपि विचारको का मत है कि "एक कहानी लेखक के समान रिपोर्ताज लेखक को भी अपने सीमित कलेवर मे उस समस्या का समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है कि जिसको लक्ष्य मे रखकर वह रिपोर्ताज लिखता है।.....एक रेखा-

---

२२. विचार और विश्लेषण—डॉ. नगेन्द्र; पृष्ठ ८०-८१

२३. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल; पृष्ठ ३५९

चित्रकार अपनी कूँची के जरा से सकेत से ही समग्र चित्र की भावनाओ को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है उसी प्रकार रिपोर्ताज लेखक को भी सक्षिप्त शब्दावली मे घटना का ठीक-ठीक और मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करना होता है।"[२४] परन्तु कहानी की सी सादृश्यता रखते हुए भी रिपोर्ताज कहानी नही है, हाँ, वह कहानी का एक विशिष्ट श्रेणी का प्रचारात्मक प्रयोग अवश्य कहला सकता है। रिपोर्ताज मे घटनाओ के चित्रण के साथ-साथ कहानी की सी रोचकता भी अपेक्षित है और कहानीकार की भाँति रिपोर्ताज लेखक को भी कम समय तथा कम स्थान मे ही अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति करनी पडती है परन्तु कहानी किसी निश्चित उद्देश्य को लक्ष्य कर ही लिखी जाती है जब कि रिपोर्ताज मे विभिन्न घटनाओ का समावेश होता है और रिपोर्ताज लेखक नियमो के कई बधनो से स्वतत्र रहता है। इतना ही नही कहानी गद्यकाव्य या गद्यगीत से भी सर्वथा भिन्न है क्योकि गद्य-काव्य या गद्यगीत मे किसी भाव के धरातल से कलाकार की भावना मधुर उड़ान लेती है तथा उसमे घटनाओं का अभाव सा रहता है और यदि प्रसंगानुसार घट-नाएँ अकित भी की जाएँ तो भी उन्हे महत्व न प्रदान कर उनसे जाग्रत हृदयोद्गारो को प्रमुखता दी जाती है परन्तु कहानी मे उद्गारो के साथ साथ घटनाओ को भी समान महत्व दिया जाता है और वह अपनी कथावस्तु की पूर्ति मे इस प्रकार के अनेक भाव चित्रो को सजोये रहती है।

विचारको ने निबन्ध और कहानी की तुलना करते हुए दोनो मे पर्याप्त साम्यता मानी है और कहा जाता है कि दोनो के आकार, रूपरेखा तथा उद्देश्य मे साम्य है। जिस प्रकार कहानी का सृजन एक विशिष्ट उद्देश्य के प्रतिपादन हेतु ही होता है और उसके प्रतिपादन के अनन्तर ही वह समाप्त हो जाती है उसी प्रकार निबन्ध भी एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही लिखा जाता है तथा उसके पूर्ण होने पर वह भी समाप्त हो जाता है। निबन्ध की भाँति कहानी भी व्यक्तित्व प्रधान ही है परन्तु दोनो के शिल्पविधान मे पूर्ण विभिन्नता है और दोनो मे किसी भी प्रकार के व्यक्तिगत विचार का प्रतिपादन तथा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति सर्वथा विभिन्न रूप मे होती है। जब कि निबन्ध मे केवल विषय-समस्या से सम्ब-धित बौद्धिक विश्लेषण, शुष्क ज्ञान, तर्क एव व्याख्या के ही दर्शन होते है वहाँ कहानीकार किसी भाव या समस्या के चित्रण या विश्लेषण हेतु उसके अनुरूप कथावस्तु का अंकन कर आकर्षक इतिवृत्त मे उसे बद्ध कर पात्रो और घटनाओं के माध्यम से कौतूहल पूर्ण सजीवता और गति उत्पन्न करता है तथा इस प्रकार

---

२४. साहित्य विवेचन—श्री. क्षेमचन्द्र 'सुमन' और श्री योगेन्द्रकुमार मल्लिक पृष्ठ ३०९

संपूर्ण कहानी के कार्य-व्यापार मे आकर्षण उत्पन्न होता है और वह अपने सामूहिक प्रभाव के सहित लक्ष्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। डॉ. कन्हैयालाल सहल के कथनानुसार "जिस निवन्ध मे वर्ण्य विषय तो हो किन्तु व्यक्ति नदारद हो वह सच्चे अर्थ मे निवन्ध नही। सच्चा निवन्ध लेखक कार्य विषय का उतना प्रस्फुटन नहीं करता जितना वह अपने व्यक्तित्व को प्र-फुटित करता है।"[२५] कहानी मे तो ठीक इसके विपरीत स्थिति रहती है क्योंकि उसमे व्यक्ति तो गौण रहता है तथा वर्ण्य विषय को प्रधानता दी जाती है। साथ ही निबन्ध के पाठक प्रायः परिष्कृत वुद्धिवाले व्यक्ति ही होते है जव कि कहानी सामाजिको की सामाजिक वुभुक्षा का सामाजिक सामग्रियो को जुटाकर शमन करती है अतः वह निबन्ध की अपेक्षा न केवल अधिक प्रभावोत्पादक है अपितु लोकप्रिय भी है।

जैसाकि एक समीक्षक का कहना है "कहानी मे घटनाओ की योजना और उनका आकर्षण नाटक के ढग का होता है"[२६] तथा इसमे कोई सदेह नही कि दृश्य काव्य-नाटक-और श्रव्य काव्य-कहानी-मे एक ही समान तत्त्वो की अभिव्यंजना की जाती है। इतना ही नही विचारको का तो यहाँ तक कहना है कि "विना नाटकीय ढग का अनुसरण किए कहानी सफल नही हो सकती"। नाटकीय गुणो के समावेश से इनके प्रभाव मे प्रवलता आती है। हृदय पर गहरी छाप लगानेवाली रीतियो का प्रयोग, पात्रो के जीवन मे संकट उपस्थित करना, स्थिति को प्रोत्साहन देना, कथोपकथन की कलापूर्ण नाटकीय रचना, केवल एक ही समस्या पर मनोयोग दृश्य का मर्मस्पर्शी चित्रण आदि चमत्कारपूर्ण कहानियों के ही लक्षण है और यह विकसित रूप नाट्यकला की सहायता का ही परिचायक है। अत. इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है कि कहानी का यह सुन्दर, सरल, रोचक एवम् कलामय रूप वहुत कुछ अशो मे नाटको के द्वारा ही वन सका है। सच तो यह है कि यदि नाटक के ये सुन्दर उपकरण कहानियो से निकाल दिये जाये, तो कहानी मनोरंजन का सावन न वनकर विरक्ति का साधन हो जाय।"[२७] इसी प्रकार श्री. जगन्नाथप्रसाद मिश्र ने भी लिखा है "आकार के सम्वंध मे उपन्यास की अपेक्षा नाटक के साथ छोटी कहानी का अधिक सादृश्य है। नाटककार को भी इस वात पर दृष्टि रखनी होती है कि नाटक वहुत वडा न हो जाय और एक वार मे ही वह समाप्त हो जाय। इस प्रकार के संकीर्ण क्षेत्र मे ही नाटककार को अपना उद्देश्य सिद्ध करना पड़ता है। रगशाला मे

---

२५. समीक्षायण-डॉ. कन्हैयालाल सहल, पृष्ठ ११८

२६. आधुनिक साहित्य-श्री. नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ १८९-९०

२७ साहित्य-श्री. शिवनारायण शर्मा, पृष्ठ ५४

अभिनय करने योग्य नाटक दो हजार पंक्तियों से अधिक का नही होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि गल्प-लेखक एवं नाटककार को संकीर्ण क्षेत्र के अन्दर ही अपने रचना-कौशल की विशिष्टता एवं मनोरम रूप मे अपना उद्देश्य पूरा करना पड़ता है।"[२८]

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बिना अभिनय के नाटक पूर्णतया रस-सृष्टि मे असमर्थ ही रहता है जब कि कहानी के पढ़ने और मनोरंजन हेतु न तो किसी अन्य निश्चित स्थान पर ही जाना पड़ता है और न समय का ही कोई प्रतिबंध रहता है। साथ ही अभिनय के समय रंगमंच को सजाने के लिए एकत्रित किए जानेवाले विपुल उपकरणो की भी कहानी के लिए आवश्यकता नही पड़ती। इस प्रकार नाटक की अपेक्षा कहानी सर्वजन सुलभ है लेकिन कहानी की सफलता और उसके प्रभाव मे प्रबलता, रोचकता तथा चमत्कार लाने के लिए कहानी मे वर्णित घटना-वैचित्र्य की नाटकीय व्यंजना अत्यंत आवश्यक है। नाटकीय अभिव्यंजना से अभिप्राय नाटकीय गुणों के समावेश तथा नाटकीय ढंग के अनुसरण से है क्योकि उनके अभाव मे कहानी मे साहित्यिकता का अभाव हो सकता है और वह मनोरंजन-शून्य भी हो सकती है। कहानी मे पात्रो का आकस्मिक प्रवेश अकस्मात् अत आदि मे भी हमे नाटकीय छटा ही दृष्टिगोचर होती है और हम देखते हैं कि बहुत सी कहानियो का कथोपकथनात्मक प्रारभ भी नाटकीय तथा कौतूहलपूर्ण प्रतीत होता है। प्रसादजी की 'आकाशदीप' का प्रारंभ देखिए—

"बन्दी,
क्या है! सोने दो।
मुक्त होना चाहते हो?
अभी नही! निद्रा खुलने पर, चुप रहो।
फिर अवसर न मिलेगा।
बड़ी शीत है, कही से एक कम्बल डालकर कोई शीत मुक्त करता।
आँधी की संभावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल है।
तो क्या तुम भी बन्दी हो।
हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी है?
शस्त्र मिलेगा?
मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे?
हाँ।"[२९]

---

२८. साहित्य की वर्तमान धारा—श्री. जगन्नाथप्रसाद मिश्र; पृष्ठ ७०
२९. आकाश दीप (कहानी)—श्री. जयशंकर 'प्रसाद'

वस्तुतः इस प्रकार की संवाद शैली को विशुद्ध ढंग से नाटकीय शैली ही कहना अधिक उपयुक्त होगा और इसीलिए न केवल प्रसादजी अपितु कई अन्य कहानीकारो की कहानियों के कथोपकथनात्मक अंश पढ़ते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मानों हम कोई नाटक ही पढ़ रहे हों। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि इस प्रकार के संवादों मे प्रसंगानुसार पात्रो के क्रियाकलाप सम्बंधी संकेत भी रहते हैं। यहाँ एक दो उदाहरण उद्धृत करना असंगत न होगा। देखिए—

"सत्या अपने उस भारी संदेह के बाद सो गयी थी। सुशीला बड़ी देर तक सत्या के पलंग के पास ही कुर्सी पर बैठी रही। अपने पलंग पर पहुँची थी कि सत्या चिल्लाई जीजी, जीजी।

सुशीला कुछ भी समझ नही पाई थी। पास पहुँची। देखा कि सत्या सफेद पड़ गयी थी और भय से कांपती बोली 'जीजी न जाने क्यों भारी डर लग रहा है।

मैं तो जगी हूँ।

फिर वह आया था।

कौन ?

वही लड़का। उसके हाथ में वही खिलौना था। बोला 'चल सत्या मेरे साथ, मुझे देरी हो रही है।'

'जीजी को मैं नहीं छोड़ूंगी' मैंने कहा था और वह खिलखिलाकर हँस पड़ा।

सुशीला बात नही समझ सकी थी। दिमागी यह तमाशा या खेल और केवल स्वप्न ही तो था। क्या सत्य मर रही है। उसने सत्या की पल्स देखी .... सुस्त। घबड़ा गई। उठकर बाहर आई। दूसरे कमरे मे धरा फोन उठाया; नम्बर मिलाकर चिल्लाई थी, डाक्टर, सत्या का दिल डूब रहा है।

लौटकर सत्या के पास बैठ गई थी। सत्या अब बोली थी—

जीजी मैं उसके साथ जाऊँगी।

और अस्पताल, वह सारी स्कीम !

मुझे माफ करना जीजी !

क्या सत्या !

मैं उससे प्रेम करती हूँ।

प्रेम !

तू अस्पताल चलाना। किसी से प्रेम मत करना। वह मुझे बुला रहा है।"[३०]

और भी—

"खा पी चुकने के पश्चात लैम्प सिरहाने रक्खे वह एक डेढ़ घंटे लाई हुई

---

३०. तमाशा (कहानी)—श्री. पहाड़ी

पुस्तक पढ़ता रहा। पढ़कर जब उसने बत्ती कम की तो पास ही की चारपाई पर लेटी हेम को देखा। पुकारा 'हेम।'

'हूँ!' स्वर कराहता-सा था।

होने लगा, सिर मे दर्द ? मैंने तो पहले ही कहा था कि हम तो अठकौनी ही खा लेंगे, पेट मे गोल थोड़े ह् ्हती है।' और वह बिस्तर से बाहर आ गया। लैम्प तेज किया।

जोर से हो रहा है ? पास जाकर सिर पर हाथ रक्खा, गरम था--अब ठीक रही ? दूसरे कमरे मे जाकर गोली लाया, शीशे के गिलास मे पानी भी। पास आकर बोला--लो इसे पी लो ? सिरहाने की ओर बैठकर सहारा देकर उसे उठाया। हेम ने चुपचाप गोली खाकर पानी पी लिया। वह अमृताजन की डिबिया लाकर उसके सिरहाने बैठ गया।

लाओ मल दूँ।

अरे तुमने तो आफत कर दी भैया, जरा सा सिर में दर्द है, ठीक हो जाएगा।

चुप रहो। तकिये पर अधलेटा होकर वह उसके माथे पर मलने लगा।

डाक्टर को ले आऊँ, विभूति को ? अरुण ने पूछा।

तुम भी गजब कर रहे हो ? हेम हँस दी, फिर एकदम बोली, क्यो भैया तुम्हे माँ की याद है।

नही--मै इन्ही बुआ के पास था। जब मैं छः वर्ष का था तो माँ मर गई और जब तुम छः वर्ष की हुई तो पिताजी--हम दोनो अभागे है। और धीरे से वह व्यथा की हँसी हँसा। उसका हाथ हेम के तप्त माथे पर चलता रहा, दीवार पर उसकी परछाई--चुप निश्चल।

अब होते तो पन्द्रह अगस्त को छोड़ दिये जाते। हेम बोली।

हाँ शायद--उन लोगो ने जेल मे ही विद्रोह कर दिया था, दीवार फाँदते हुए गोली लग गयी। हाथ उसी तरह चलता रहा।

क्यो भैया, कैसा लगता होगा, अकेले ही अकेले, वहाँ, वही बँधी-बँधी दिनचर्य्या। काले पानी वालो का जीवन कैसा होता होगा।

मुझे क्या मालूम ? फिर धीरे से हँस कर बोला--ऐसा ही होता होगा जैस हमारा है।"[३१]

इधर हिन्दी मे अब नाटय कहानियाँ भी लिखी जा रही है और जिस गति से उनका प्रकाशन हुआ है उसे देखते हुए कोई आश्चर्य न होगा कि भविष्य में उनकी सख्या काफी अधिक हो जाए। आधुनिक कहानीकारो मे श्री. रावी को इस

३१. बारह वर्ष, बारह घंटे--श्री. राजेन्द्र यादव

दिशा में विशेष सफलता मिली है तथा उनकी 'पूर्व और पश्चिम' नामक पुस्तक में दस नाट्य कहानियाँ संगृहीत है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि इन नाट्य कहानियो मे नाटकीय संकेतों की प्रचुरता सी रहती है और इस प्रकार उन्हें कहानियाँ न कहकर नाटक कहना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। एक उदाहरण देखिए--

"[आधुनिक ढंग का एक सजा हुआ शयन-गृह। पीछे की दीवार के सहारे एक लम्बा सोफा और उसके पास दो कोच पड़े हुए है। दीवार से सटी, सोफा के किनारे, कपड़ों की एक आलमारी है। आलमारी के वगल में एक आदमकद शीशा जड़ा हुआ सिगारदान है। कमरे के बीचोबीच दो पलंग बिछे हुए है। उन दोनों के बीच एक तिपाई है। कमरे मे बिजली का प्रकाश है। उधर वाले पलंग का लिहाफ उघरा हुआ अस्तव्यस्त पड़ा है--उस पर सोने वाला मनुष्य उठ गया है। इधर के पलंग पर एक सुन्दर नवयुवती--रेखा गले से पैर तक लिहाफ मे लिपटी सो रही है। पलंग के सिरहाने की ओर के दरवाजे से एक दूसरी नवयुवती--पहली की अतिथि और सहेली, रजनी--प्रवेश करके इस सुन्दरी के पलंग पर बैठ जाती है। रेखा आँखें खोल देती है।]

रजनी--(रेखा के ऊपर झुकी हुई) तुम अब बहुत सोने लगी हो रेखा, मैं कब की उठी हुई हूँ।

रेखा--(एक अँगड़ाई लेकर) हिस्ट्री की किताबो और परचो का भूत अब तो मेरे सिर पर नही है। सुख की नीद अब भी न सोऊँ। सोने में जागते से अधिक काम करती हूँ। (रजनी की आँखो मे आँखे गड़ा कर मुस्कराती है)

रजनी--सोते मे जागने से अधिक काम ! यह किसी कविता की भाषा है या वही तुम्हारी पुरानी ओकल्ट फिलासफी का कोई सिद्धात ? मै आज जाऊँगी।

रेखा--तुम अभी निरी बच्ची हो रजनी। तुम आज जाना चाहती हो ! नहीं, नही जाने दूंगी। ऐसी मुसीबत क्या है ? रमेश दादा को मै तार दे दूंगी, रजनी अभी पन्द्रह दिन और नही आ सकती।

रजनी--पन्द्रह दिन मे जवान कर दूंगी।

[दोनो हँसती है। रेखा उठकर तकिये के सहारे बैठ जाती है।]

रेखा--रजनी मै स्त्री हूँ। हूँ न ?

रजनी--हां, हो तो ! इसकी भी याद दिलाने की आवश्यकता है ?

रेखा--निस्सदेह मै स्त्री हूँ (गर्दन झुकाकर कुछ देर तक अपने सीने की ओर देखने के पश्चात्) अब पूरी स्त्री हूँ लेकिन रजनी, मै मनुष्य भी हूँ।

रजनी--मनुष्य ?

रेखा--हाँ, मनुष्य। स्त्री और पुरुष, मनुष्य के केवल दो रूप है। मैं वह सब कर सकती हूँ जो किसी भी मनुष्य द्वारा किया जा सकता है।....."[32]

जैसा कि जेम्स डब्ल्यू. लीन (James W. Linn) का कहना है Short story is a representation, in a brief, dramatic form of a turning point in the life of a single character. अर्थात् आधुनिक कहानी सक्षेप मे नाटकीय ढंग से किसी एक पात्र के जीवन मे संक्रमण बिन्दु की अभिव्यजना ही है। वास्तव में नाटकीय गुणो के अभाव मे कहानी हृदयस्पर्शी नही होती क्योकि वास्तविकता तो यह है कि उसमे किसी विशिष्ट पात्र के जीवन की किसी महत्व-पूर्ण घटना को ही नाटकीय रूप प्रदान किया जाता है और प्रभाव क्षेत्र तथा शैली की दृष्टि से तो दोनो एक दूसरे के बहुत समीप पहुँचे हुए जान पडते है[33] लेकिन नाटक की अपेक्षा कहानी एकाकियो के अधिक अनुरूप जान पडती है तथा यह कहना अत्युक्ति न होगी कि नाटच-साहित्य मे जो स्थान एकांकी नाटकों को दिया जाता है वही कथा-साहित्य मे कहानी का है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दो मे "स्पष्टतया एकाकी एक अक मे समाप्त होनेवाला नाटक है और यद्यपि उस

---

३२. रेखा मनुष्य भी है--श्री. रावी

३३. Evelyn May Albright ने एक स्थल पर कहानी और नाटक की तुलना करते हुए इसी प्रकार निर्णयात्मक रूप मे कहा है-- "The story writer, like the dramatist is compelled by lack of space to present his situation effectively in a few strong strokes, and so tender his main characters prominent in their true relations to teach other and to their whole environment without the aid of many groups of lesser characters and without the background of a long series of minor events, which prepare for and emphasize the climax. The artificial isolation of a limited number of people and events, the artistic heightening of dialogue; the concentration of a single issue, the vivid picturing of a scene that is significant, are essentially dramatic. In a word, the drama is largels responsible for the brilliant technique which is one of the distinguishing features of modern story writing."

—From the Short Story : Its Principles and Structures by Evelyn May Albright.

अंक के विस्तार के लिये कोई नियम नही है फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। परिधि का यह संकोच कथा-संकोच की ओर इंगित करता है और एकांकी मे हमे जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक प्रद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।"[३४]

एकांकी की उक्त परिभाषा से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि एकांकी और कहानी मे कोई मौलिक अन्तर नही है तथा दोनो एक ही वस्तु है और दोनो का अन्त भी आकस्मिक होता है। डॉ. प्रभाकर माचवे के कथनानुसार "कहानी बहुत कुछ एकाकी नाटक के समान होती है। प्रभाव की एकाग्रता, जीवन का आशिक क्षण चित्रण, सवाद की स्वाभाविकता, घटनाओ की नाटकीयता आदि दोनो मे एक-सी आवश्यक वस्तुएँ है।"[३५] इस प्रकार कहानी और एकांकी के उद्देश्य एवं दृष्टिकोण मे समानता होते हुए भी शिल्पविधान और रूपरचना की दृष्टि से दोनो मे बड़ा अन्तर है। यो तो श्री. मोहनलाल 'जिज्ञासु' का यही विचार है कि "जिस प्रकार एकांकी नाटक मे जीवन का एक अंश, परिवर्तन का एक क्षण मेघमाला मे दामिनी की चमक की तरह विद्यमान रहता है, उसी प्रकार कहानी मे भी जीवन के किसी अंश-विशेष की व्यंजना होती है"[३६] पर जैसा कि डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है "कहानी और एकांकी नाटक कला में कथा-वस्तु, पात्र और संवाद आदि तमाम तत्त्वो के होते हुए भी दोनो कला वस्तुएँ अपने रूपविधान मे विभिन्न है"[३७] वह वस्तुत उचित ही है।

यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि कहानी कला के शिल्पविधान पर विचार करते समय हम देखते है कि कहानी-निर्माण की विभिन्न प्रणालियो के अन्तर्गत नाटकीय शैली का भी उल्लेख किया जाता है और इस नाटकीय शैली के अन्तर्गत भी दो मुख्य प्रणालियाँ प्रचलित है जिनमे से एक तो संलाप प्रणाली या वार्तालाप प्रणाली कहलाती है तथा दूसरी एकाकी नाटक के विधान का अनुसरण करती है और इस दूसरी प्रणाली का प्रचलन कुछ आधुनिक कहानियो मे विशेष रूप से

---

३४. आधुनिक हिन्दी नाटक--डॉ. नगेन्द्र; पृष्ठ १२८

३५. सतुलन--डॉ. प्रभाकर माचवे; पृष्ठ १८६

३६. कहानी और कहानीकार--श्री. मोहनलाल 'जिज्ञासु'; पृष्ठ १३

३७. हिन्दी कहानियो की शिल्पविधि का विकास-डॉ लक्ष्मीनारायण लाल; पृष्ठ ३५७

देख पड़ता है[३८] परन्तु एकांकी दृश्यकाव्य के ही अन्तर्गत आता है और कहानी श्रव्य काव्य के अन्तर्गत, अत: एकांकी नाटक एक अभिनय की वस्तु है तथा मेरियन क्रॉफोर्ड के अनुसार 'उसकी रंगशाला उसी मे निहित है।" एकाकी कला का संपूर्ण प्रभाव और उसकी संपूर्णता के हेतु रंगमंच की आवश्यकताएँ अपेक्षित है जब कि कहानी मे किसी बाह्य स्थिति का तनिक भी प्रतिबंध नही रहता। इतना ही नही डॉ. सत्येन्द्र के शब्दो मे "एकाकी के लिए कथा 'भूमि' नही जैसे नाटक के लिए है, केवल केन्द्र या धुरी (pivot) है जिस पर एकाकी-कार अपने एकांकी की वस्तु को घुमाता है . . . एकाकी मे कथा सिमिट कर धुरी के बिन्दु जैसी बन जाती है और उसके ऊपर पात्रो के उभरे व्यक्तित्व की झाँकी से भी अधिक विषय की मार्मिकता प्रबल हो उठती है।"[३९] साथ ही कहानी की अपेक्षा एकाकी में घटनाओ से अधिक महत्व पात्रो को दिया जाता है और पात्रो के माध्यम से ही घटनाओं का आरोहावरोह, कार्य-व्यापार आदि का चित्रण होता है। डॉ. रामकुमार वर्मा का भी यही मत है "एकाकी मे पात्र ही महारथी होता है। घटनाएँ रथ बनकर समस्या संग्राम मे उसे गति प्रदान करती है। मेरी दृष्टि मे पात्र प्रधान एकांकी कला की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली

---

३८. एकांकी नाटक प्रणाली का एक उदाहरण देखिए–

"और ठीक उसी समय स्त्री का पति प्रवेश करता है। पति जैसा ही उसका स्वर है, साधारण, न रूखा न मीठा, जिसमे कुछ अपनापा भी है, कुछ उदासीनता भी, लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यार के परिचय के ही दो पहलू नही है ?

पति–मालती।

स्त्री–जी।

पति–(चिढ़ता हुआ)अगर मै बाहर खड़ा रहता, तो सोचता न जाने कौन तुमसे बाते कर रहा है। यह क्या पता था कि आप जूठे बरतनो से भी बाते कर सकती है।

स्त्री–नही–हाँ।

पति–यानी इतनी तन्मय होकर बात कर रही थी कि मुझे मालूम ही नही। कौन था वह मनमोहन सुध बिसरावन कौन . . . आया था ?

स्त्री–(अनमनी सी) बसंत।

पति–न समझते हुये, कौन बसत ?

—जयदोल; बसत–अज्ञेय (पृष्ठ ५१)

३९ हिन्दी एकांकी–डॉ. सत्येन्द्र; पृष्ठ ५५–५६

हुआ करती है।"[४०] चूंकि एकांकी-कला अपने रूप-विधान की मान्यताओं मे ही सीमित रहकर अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच पाती है जब कि कहानीकार को अधिक से अधिक शिल्पविधान सम्बंधी अधिकार प्राप्त होते है अतः एकांकी कला की अपेक्षा कहानी-कला स्वाभाविक ही पूर्ण सुगमता और सरलता के साथ एकान्त प्रभाव, मनोरंजन तथा आनंद प्रदान करने मे अधिक सक्षम होती है लेकिन अब तो आधुनिक कहानियाँ और एकांकी एक दूसरे के अधिक समीप पहुँच रहे हैं क्योकि रगमंच और अभिनय के अभाव से कहानी की भाँति एकांकी भी प्राय. पढ़ने के लिए अधिक लिखे जाते है। इस प्रकार डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों मे "कहानी और उपन्यास, और कहानी और नाटक मे तो भेद है, पर एकाकी मे आकर कहानी एकाकी का कथात्मक रूप ही ज्ञात होती है। इस आधार पर यदि दोनो की रचना-प्रणाली की विवेचना की जाय तो विभिन्न तत्वों और उनके संयोजन के विचार से भी दोनों मे समानता है—ऐसा दिखाया जा सकता है।"[४१]

साहित्य के अन्य अंग-उपांगो से कहानी की तुलना करते समय हमे न केवल गद्य से अपितु कविता से भी कहानी का सम्बंध स्पष्ट करना होगा। यद्यपि कविता को पद्यबद्ध रचना तथा कहानी को गद्य मे लिखी जानेवाली कृति माना जाता है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि कहानियाँ कविता मे नही लिखी जाती। आख्यानक काव्य या कथा काव्य की परम्परा तो प्राचीन ही है और महाकाव्य तथा खडकाव्य के कथावस्तु, चरित्र, वातावरण आदि कतिपय तत्त्व भी कहानी के तत्त्वो से सर्वथा विभिन्न नही हैं। महाकाव्य मे तो छोटी कहानियों के आकार प्रकार की अनेक प्रासगिक कथाएँ भी अतर्भूत रहती है तथा उसमे सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किया जाता है और खड काव्य मे भी जीवन की किसी विशिष्ट घटना को आधार बनाया जाता है पर काव्य-ग्रंथो मे रसपक्वता आवश्यक मानी जाती है जब कि कहानी मे केवल भाव चित्रण ही अपेक्षित है तथा शैली की विभिन्नता ही दोनो मे है।

वास्तव मे कवि और कहानीकार चिरकाल से मानव जीवन के साथी माने जाते हैं तथा दोनो का जन्म मानव जीवन और मानव हृदय से ही हुआ है और एक यदि भावनाओं का गायक कहा जाता है तो दूसरा मनोवृत्तियो का निदर्शक लेकिन कविता मे भाव जगत की उन संचित अनुभूतियो को मूर्तिमान रूप प्रदान किया जाता है जिनकी कि अभिव्यक्ति मे कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग रहता है; जब कि कहानी का सृजन जीवन के किसी विशिष्ट सत्य को आलोकित करने के

---

४०. ऋतुराज—डॉ. रामकुमार वर्मा; भूमिका; पृष्ठ १४

४१. कहानी का रचना-विधान—डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा; पृष्ठ २८

उद्देश्य से ही होता है अत उसमे कविता की अपेक्षा मनन और चिन्तन की प्रधानता रहती है। कविता केवल भाव या दृश्य चित्रण पर ही आधारित रह सकती है लेकिन कहानी मे सामान्य दैनिक जीवन की सजीव सत्यता अपेक्षित है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने विस्तार के साथ कहानी और कविता का अतर स्पष्ट करते हुए लिखा है "कहानी और कविता मे तो स्थूल भेद यह है कि कहानी की भाषा गद्य और कविता की भाषा पद्य रूप होती है। कविता के अतर्गत मै आजकल की छन्द-स्वच्छद कही जाने वाली कविता को भी ले रहा हूँ। कविता के अंतर्गत छन्द आवश्यक है। जहाँ पर हमारा उद्गार किसी भी नियमित गति के अनुकूल चलता है वहाँ छन्द आ जाता है। गति ही छन्द का प्रमाण है और गति कविता के लिए भी अनिवार्य है। व्याकरण के नियमो की अवहेलना या उसका त्याग जहाँ पर भी गति के लिए किया जाय वहाँ हमे छन्द की सत्ता माननी पडेगी। अतः कविता और कहानी का स्थूल भेद कहानी की गद्य-रचना मे है। दूसरा भेद कहानी और कविता मे यह है कि कविता विशिष्ट भावनाओ को लेकर चलती है जब कि कहानी जीवन की सामान्य अनुभूतियो को ही ग्रहण करती है। कवि वस्तुओ और अनुभूतियो के कल्पनागत रूपो का चित्रण करता है, कहानीकार अनुभूत जीवन की यथार्थता को। कवि वास्तविकता का ध्यान रखते हुए भी ऐसा चित्र उपस्थित करेगा जो हमारी कल्पना को अधिक सतुष्ट करे। उसका प्रयत्न वस्तु की अंतरात्मा का चित्रण करने मे और उस सार्वभौम सत्य को पकडने मे है जो हमारी आतरिक वृत्तियो का जीवन है; पर कहानीकार कल्पना के सहारे वास्तविक जीवन के स्थूल दृश्य उपस्थित करता है। हमारे अनुभूत जीवन के क्षणो को फिर से जगाता है। कवि विषय से घुल मिलकर एक हो जाता है। अतः कविता अपने और पाठक के बीच मे कोई अतर नही रखना चाहती और कहानीकार विषय का दर्शक रहता है और पाठक देखे सुने जीवन के दृश्यो को फिर से देखता है। कहानीकार विषय और घटनाओ का सचालक होता है परन्तु कवि उनके साथ स्वयं चलता है।"[४२]

इसमे कोई संदेह नही कि कहानी का भावात्मक अंश कविता ही है और हिन्दी कहानियो मे कई ऐसे स्थल दृष्टिगोचर होते हैं जहाँ कि भावनाप्रधान शैली से कहानीकारो ने किसी पात्र या दृश्य-विशेष का काव्यात्मक चित्रण किया हो।[४३] इतना ही नही कुछ कहानियाँ तो ऐसी भी दृष्टिगोचर होती है जिनमे

---

४२. काव्यशास्त्र–डॉ. भगीरथ मिश्र; पृष्ठ ६१–६२

४३. उदाहरणार्थ–

"तुम उसका रूप-सौन्दर्य पूँछते हो, मै उसका विवरण देने में असमर्थ हूँ–हृदय मे उपमाएँ नाचकर चली जाती हैं, ठहरने नही पाती

काव्यात्मकता की प्रधानता सी हो जाती है और निरालाजी की अधिकांश कहानियों में स्पष्ट रूप से कविता की छाया विद्यमान है तथा कहीं कहीं तो लेखक किसी रहस्यशक्ति की वन्दना सा करता प्रतीत होता है।[४४] यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि हमारी अद्यतन नई प्रतिमाओं में भी भावात्मकता की ओर विशेष रुझान दीख पड़ती है और नवीन कहानियों में भी काव्यात्मक अंशों का

कि मैं उन्हें लिपिबद्ध करूँ। वह एक ज्योति है जो अपनी महत्ता और आलोक में अपना अवयव छिपाए रखती है। केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आँखें मेरी आँखों में मिल जाती है, मेरी आँखों में श्यामा कादम्बिनी की शीतलता छा जाती है।"

—देवदासी : जयशंकर 'प्रसाद'

इसी प्रकार का अलंकारपूर्ण काव्यात्मक चित्रण निम्नलिखित अवतरण में भी देख पड़ता है—

"उस दिन की रात्रि मानो मदिरा के खुमार से अचेतन सी हो रही थी। द्विपहर रात्रि, सुपुप्त बादशाह का महल। प्रहरीगण के नेत्रों में निद्रा की सम्मोहिनी। झपती सी आँखें। केवल उस दिन के संसार की श्रेष्ठ सुन्दरी नूरजहाँ के नेत्रों में निद्रा के बदले में जीवन्त विस्मय प्रहरी की भाँति बैठा हुआ था। उसके कमरे में सब दीप निर्वासित थे, किन्तु फिर भी एक उज्जवल, विचित्र प्रकाश से जगमगा रहा था। और नूरजहाँ चाँदी की चौकी पर पत्थर की रकाबी पर रखे हुए हीरे को अपलक नेत्रों से निहार रही थी। उस हीरे में कदाचित चाँद ने अपनी ज्योत्स्ना को निःशेष कर भर दिया हो, लुटा दिया हो, ऐसा लग रहा था। तीव्र नहीं किन्तु स्निग्ध प्रकाश, जो कि मन में अपना अस्तित्व रख जाया करता है, वैसे ही विचित्र प्रकाश से कमरा उज्जवल हो रहा था।"

—राणा प्रताप का हीरा : उपादेवी मित्रा

४४. देखिए—

"मन धीरे धीरे उतरने लगा। देखा, आकाश की नीली लता में सूर्य, चन्द्र और ताराओं के फूल हाथ जोड़े खिले हुए अज्ञात शक्ति की समीर से हिल रहे हैं, पृथ्वी की लता पर पर्वतों के फूल हाथ जोड़े नमस्कार कर रहे हैं—आशीर्वाद की शुभ्र हिम धारा उन पर प्रवाहित है, समुद्रों की फैली लता में आवर्तों के फूल खिले हुए अज्ञात किसी पर चढ़ रहे हैं, डाल डाल की बाने अज्ञात की ओर

निरा अभाव नही है[४५] पर इतना अवश्य है कि उनमे रहस्यात्मकता और दुरूहता का लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नही होता।

वस्तुतः कहानी मे कल्पना, भाव और बुद्धितत्व मे से अंतिम को ही विशेष महत्व दिया जाता है तथा कविता व कहानी की भावग्राहिका शक्ति मे भी विभिन्नता है क्योकि कहानी की अपेक्षा कविता के प्रेमी सीमित संख्या मे ही होते है। साथ ही अनुभूति, कल्पना और चिन्तन के विविध वेष्टनों मे ढँकी हुई कविता का प्रकृत रूप भावविधान तथा उक्ति-वैचित्र्य के भार से इस प्रकार दब जाता है कि वह हमे दुरूह प्रतीत होती है जब कि कहानी की सबसे बडी विशेषता उसकी सरलता ही है जिसके फलस्वरूप वह अन्य साहित्यांगो की अपेक्षा अधिक मनोरंजक और मर्मस्पर्शी मानी जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि "कविता सुननेवाला किसी भाव मे मग्न रहता है और कभी कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है 'जरा फिर तो कहिए।' कहानी सुननेवाला कहता है 'हाँ! तब क्या।"[४६]

पुष्प बढाए हुए है। तृण तृण पूजा के रूप और रूपक है। इसके बाद उन्ही उन्ही पुष्पों के पूजा भावों मे छंद और ताल प्रतीयमान होने लगे–सब जैसे आरती करते, हिलते, मौन भाषा में भावना स्पष्ट करते हो, सबसे गध निर्गत हो रही है, सत्य की पवन वहन कर रही है, पुष्प-पुष्प पर अज्ञात कहाँ से आशीर्वाद की किरणे पड़ रही है, इसके बाद उसको स्वर्गीया प्रिया वैसे ही सुहाग का सिंदूर लगाए हुए सामने आई।"

––भक्त और भगवान: सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

४५. देखिए—

"आषाढ़ की प्रथम घटाएँ किरणो के कमलो पर लहराने वाली भ्रमर पाँत की भाँति आई किन्तु रिमझिम संदेश देकर चली गई। उद्यान मे मोर पंख फैला कर नाच उठे किन्तु उनके नृत्य को देखकर विकल हो उठनेवाला कलाकार एकाग्र चित्त से निर्माण मे तल्लीन रहा। बादलो से आँखमिचौनी खेलकर, चन्द्रकिरणों का आँचल उलटकर, कदम्ब की भुजाओ को आलिंगन मे झकझोर कर, केतकी का घूँघट हटाकर, दो चार चुम्बन चुराकर आनेवाला मादक समीर भी कलाकार की तन्द्रा को अस्त-व्यस्त न कर पाया।"

––कलाकार का मृत्यु चिन्ह: धर्मवीर भारती

४६. चिन्तामणि (पहला भाग)–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृष्ठ १६३

उक्त अवतरण से यही स्पष्ट होता है कि कहानी हमारी उत्सुकता को जाग्रत कर आगे की घटनाओं से जानकारी प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है जब कि कविता में कौतूहल वृत्ति की अपेक्षा रमणवृत्ति ही विशेष रूप से रहती है। इस प्रकार श्री. भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने कविता की अपेक्षा कहानी को ही जीवन की वास्तविक झलक अंकित करने में समर्थ मानते हुए कहा है "मनुष्य की आत्मा का मूल स्वर यों तो व्यापक रूप से समस्त साहित्य है, किन्तु मनोवेगों का जो रूप शिल्पविधान के माध्यम से प्रकट होता है वह जितना अधिक स्थायी होता है उतना ही चिन्तनहीन भी रहता है। कदाचित् इसका कारण यह है कि सभ्यता के युगयुगान्त पार कर डालने पर भी कविता का गेयगुण अब तक यथावत् स्थिर है। जो कविता गेय नहीं हो पाती, वह स्मरण शक्ति की पावन गोद के आश्रय से भी वंचित हो जाती है और गेय बनी रहने के कारण वह परिवर्तनशील जीवन की नाना वृत्तियों पर विवाद, तर्क, मंथन और चिन्तन प्रकट करने की अपनी सामर्थ्य सम्पदा भी खो देती है।"[४३]

कविता के विविध रूपों में से गीत को कहानी की तुलना में यथासंभव रखा जा सकता है तथा एकध्येता और वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण दोनों में घनिष्ठ सम्बंध भी जान पडता है अतः बहुत से विचारक काव्य में जो स्थान गीत का है वही गद्य-साहित्य में कहानी का भी मानते हैं लेकिन दोनों में पर्याप्त समानता होते हुए भी कहानी और गीतिकाव्य में यह मूल अंतर बना ही रहता है कि गीत भाव जगत की अनुभूतियो के आधार पर सृजित होते हैं और वे भावना के गगन में पंख खोलकर उड़ने लगते हैं तथा कल्पना-तत्त्व के साथ-साथ संगीतात्मकता की तादात्म्यता भी उनमें रहती है परन्तु कहानीकार अपनी भावनाओं को सजीवता और स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए ठोस धरातल खोज निकालता है तथा इस प्रकार कहानी में जीवन के धरातल से जीवन की आलोचना और सत्यदर्शन ही अंकित किया जाता है। गीतों की सी भावुकता के लिए कहानी में कम से कम स्थान की गुंजाइश रहती है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने एक स्थल पर कहा है कि हर एक काल्पनिक कृति में मौलिक सत्य अवश्य विद्यमान रहता है तथा इसी प्रकार एक विचारक का मत है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है अतः कहानी और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना यहां अप्रासंगिक न होगा। वस्तुतः इतिहास में अतीत की अनेक घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित किया

४३ प्रतिनिधि कहानियां—संकलनकर्ता श्री. भगवतीप्रसाद वाजपेयी; पृष्ठ ७

जाता है लेकिन उन्हे कहानियाँ नही कहा जा सकता तथा इतिहास के सत्य और कहानी के यथार्थ मे विभिन्नता भी है क्योकि कहानीकार को किसी भी प्रकार के तथ्य-संग्रह की आवश्यकता नहीं रहती और वह संभाव्य सत्य को ही अंकित करता है जब कि इतिहासकार को तथ्यान्वेषण और घटना के घटित होने के प्रमाण प्रस्तुत करने पड़ते है। इतिहास मे समाज और जाति को प्रमुखता दी जाती है तथा व्यक्ति का महत्व गौण ही रहता है लेकिन कहानी में व्यक्ति को प्रधानता देते हुए मनुष्य की उच्चतम अभिलाषाओ को भी स्थान दिया जाता है। इतिहासकार देश और काल का यथातथ्य चित्रण ही कर सकता है तथा इतिहास मे सत्य का जो रूप अंकित होता है वह देश और काल तक ही सीमित रहता है अत. उसमे उत्सुकता और रोचकता पर ध्यान देना आवश्यक नही समझा जाता लेकिन कहानी मे तो हृदय को संवेदनशील बनाने की क्षमता विद्यमान है और वह न केवल सत्य, शिव और सुन्दर का रूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है अपितु लोकोत्तर आनंद की भी सृष्टि करती है। स्मरण रहे इतिहास के आधार पर लिखी गई कहानियो मे भी कहानीकार व्यक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करता है और श्री प्रेमचन्द का भी यही मत है कि "कहानी मे नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है और इतिहास मे नाम और सन् के सिवा सब कुछ भी सत्य नही।"[४८]

इस प्रकार आधुनिक कहानी के स्वरूप पर विचार करते समय हम यह कह सकते हैं कि कहानी का अपना निजी स्वरूप और अपनी स्वतंत्र गतिविधि है तथा उसकी प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से तो डॉ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह मत उचित ही जान पड़ता है कि "कहानी ने कविता को दबाया, निबंधों को भगाया, नाटकों को नवाया और उपन्यासो को गाया" अर्थात् साहित्य की अन्य समस्त विधायें कहानी की समकक्षता मे अपना अधिक महत्व नही रखती।

---

४. कुछ विचार—श्री प्रेमचन्द; पृष्ठ ३७